****

ANANYA BHAKTI SE BHAGWAT PRAPTI

(Hindi)

****

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१. अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति	१
२. केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति	१५
३. सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय	२५
४. मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय	४१
५. गीतोक्त अनन्य प्रेमका साधन और उसका फल	५१
६. अन्तकालमें हुए परमात्मचिन्तनका महत्त्व	६०
७. अनन्य भक्ति-साधनका स्वरूप	६९
८. निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा	७७
९. ईश्वर और महापुरुषोंका प्रभाव	८५
१०. परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता	९५
११. भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति	१२०
१२. भगवान्‌के स्वभावका रहस्य	१३३
१३. भगवन्नामजपका प्रभाव	१४५
१४. आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें	१५८
१५. भगवत्प्राप्तिके विविध साधन	१७२

अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति

गीतामें भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ भक्तिका वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ भक्ति, भजन, प्रेमके वाचक शब्दोंका प्रयोग किया है। इस कारण भक्तिके मार्गमें प्रेमकी प्रधानता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यहाँ **'यथा'** शब्द प्रकार अर्थमें है अर्थात् जो मेरा ध्यान करता है उसका मैं ध्यान करता हूँ। जैसे महाभारतमें वर्णन आता है कि राज्य पानेके पश्चात् राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णके पास गये और कृतज्ञता प्रकट करने लगे कि प्रभो ! हमने आपकी कृपासे ही यह राज्य पाया है; किंतु भगवान्‌ने कोई उत्तर नहीं दिया; क्योंकि वे उस समय ध्यानमग्न थे। तब युधिष्ठिरने आश्चर्य करते हुए पूछा—'आप तो अमितपराक्रमी, समस्त जगत्‌के आश्रयदाता, पुरुषोत्तम हैं, आप किसका ध्यान कर रहे हैं ?' इसपर भगवान्‌ने कहा—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥

(महा० शान्ति० ४६। ११)

'राजन्! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है।'

इससे समझना चाहिये कि भीष्मका भगवान्‌में कितना प्रेम था और भगवान्‌के स्वभावकी ओर भी ध्यान देना चाहिये कि उनकी कितनी सुहृदता है। भगवान् सबके सुहृद्—हेतुरहित दया और प्रेम करनेवाले हैं—इस प्रकार जाननेसे मनुष्यको शान्ति मिल जाती है। भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५। २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समान ही रहता है, किंतु दर्पणमें तो सूर्य प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिगोचर होते हैं और काठ-पत्थर आदिमें नहीं, इसी तरह भगवान् सब जगह समानभावसे रहते हुए भी जिसका हृदय दर्पणकी भाँति शुद्ध है और जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसके हृदयमें विशेषरूपसे निवास करते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

जो भगवान्‌के प्रति निष्कामभावसे अनन्य प्रेम करता है, भगवान् भी उसके प्रति वैसा ही प्रेम करते हैं। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

(७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला निष्कामी, ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इतना ही नहीं, भक्त प्रेमसे भगवान्‌को जो कुछ भी देता है उसे भगवान् प्रकट होकर ग्रहण कर लेते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(गीता ९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

अतएव—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गीता ९ । २७)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(गीता ९ । २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं— ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतः भक्तिका साधन सब साधनोंसे सुगम भी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

यदि कहें कि निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति सुलभ तो है, किंतु भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन होना कठिन है तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌में श्रद्धा, प्रेम और आत्मीयता होनेपर कठिन नहीं है; क्योंकि फिर नित्य-निरन्तर चिन्तन अपने-आप ही होने लगता है। तथा भगवान्‌के प्रति प्रेम मनुष्यका स्वाभाविक ही होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के सिवा वास्तवमें अपना कोई सुहृद् है नहीं और उनके साथ जीवका नित्य सम्बन्ध है। सत्संग और शास्त्रके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेपर उनमें स्वाभाविक ही प्रेम हो जाता है; क्योंकि भगवान्‌के समान कोई गुणी और प्रभावशाली नहीं है तथा भगवान्‌की भक्तिके साधनके समान और कोई दूसरा साधन नहीं है। भगवान्‌ने भक्ति करनेवाले श्रद्धालु भक्तकी विशेष प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

सगुणोपासक और निर्गुणोपासककी उत्तमताके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने सगुणोपासकको श्रेष्ठ बताया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

इसके सिवा आगे अ० १२ श्लोक ५ में निर्गुण-निराकारका

साधन कठिन बताया है और फिर सगुण-साकार-उपासनासे आत्माका शीघ्र उद्धार होनेकी बात कही है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ६-७)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं; हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

इतना ही नहीं, यदि वह पापीसे भी पापी हो तो भी अनन्य भक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

भगवान्‌की अनन्य भक्ति—अनन्य प्रेमसे भक्त भगवान्‌का दर्शन, यथार्थ ज्ञान और भगवान्‌में प्रवेश भी कर सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

यदि कहें कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती—ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है, सो ठीक है, किंतु भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदान कर देते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अतएव भक्तियोगमें भगवान्‌के प्रति अनन्य विशुद्ध दृढ़ प्रेम होना ही प्रधान है। उस परम प्रेमकी प्राप्तिके इच्छुक साधकोंको अपने समयके प्रधानतया तीन विभाग समझने चाहिये—१—ऐकान्तिक साधन-काल, २—व्यवहार-काल, ३—शयन-काल। इनको किस प्रकार सुधारकर उत्तमोत्तम रीतिसे व्यतीत किया जाय, इसपर विचार किया जाता है।

ऐकान्तिक साधन-काल

भक्तियोगके साधकोंको एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान, पूजा, पाठ (स्वाध्याय), स्तुति, प्रार्थना आदि नीचे लिखे अनुसार उत्तम रीतिसे करना चाहिये।

१-जप—जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सब जलके ही नाम हैं, इसी प्रकार ॐ, हरि, राम, कृष्ण, भगवान्, नारायण, वासुदेव, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि भगवान्‌के हजारों नाम हैं। ये सभी समान हैं। किंतु जिसकी जिस नाममें रुचि, श्रद्धा, विश्वास विशेषरूपसे है उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है। जो नामजप वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके किया जाता है, उसकी अपेक्षा जो दूसरोंको सुनायी न दे, ऐसे धीमें स्वरसे ओठोंके द्वारा उच्चारण किया जानेवाला उपांशु जप अधिक महत्त्वका होता है तथा उपांशु जपकी अपेक्षा मानसिक जप और भी अधिक महत्त्वका है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनु० २।८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

२-ध्यान—भगवान्‌के निराकार या साकार और साकारमें भी शिव, विष्णु, राम-कृष्ण या अन्य जिस किसी भगवत्स्वरूपमें जिसकी श्रद्धा, विश्वास और प्रीति हो, उसके लिये वही विशेष लाभप्रद है। किंतु भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करनेके समय भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान किया जाय तो वह विशेष लाभदायक है।

३-पूजा—मन्दिरोंमें या अपने घरमें अपने इष्टदेवका षोडशोपचारके द्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे पूजन करना उत्तम है। इससे भी उत्तम है अपने हृदयरूप मन्दिरमें या बाह्य आकाशमें अपने इष्टदेवके स्वरूपकी स्थापना करके षोडशोपचारद्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे मानसिक सामग्रीसे मानसिक पूजन करना। बाह्य पूजा तो बिना मनके भी हो सकती है, किंतु मानसिक पूजा तो बिना मन लगाये होती ही नहीं; इसलिये बाहरी

सामग्रीसे पूजा करनेकी अपेक्षा मनसे पूजा करना और भी श्रेष्ठ है।

भगवान्‌को प्राणिमात्रके उत्पादक और रक्षक तथा प्राणिमात्रमें व्यापक समझकर भगवद्भावसे सबकी सेवा, आदर-सत्कार करना—यह भगवत्पूजा व्यापक होनेके कारण पूर्वोक्त पूजाकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। इस पूजाका स्वरूप भगवान्‌ने गीतामें यों बताया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

४-पाठ-(स्वाध्याय)—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण, भागवत, स्तोत्र आदि धार्मिक ग्रन्थोंके साधारणतया किये जानेवाले स्वाध्यायकी अपेक्षा उन ग्रन्थोंमें आये हुए भगवान्‌के गुण-प्रभावके प्रसङ्गोंका तत्त्व-रहस्य समझते हुए अनुशीलन करना विशेष लाभप्रद है।

५-स्तुति—भगवान्‌के गुणोंका गायन करना ही 'स्तुति' कहा जाता है। जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(१०।१२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और

सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

इसी प्रकार गीतामें तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी भगवान्‌की स्तुतियाँ नाना प्रकारसे मिलती हैं। उन स्तुतियोंका भगवान्‌के गुण-प्रभावको समझकर श्रद्धा-प्रेम-भावसे गायन करना विशेष लाभप्रद है।

६-प्रार्थना—किसी भी कार्य-सिद्धिके लिये या किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌से याचना करना 'प्रार्थना' है। जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान्‌से चतुर्भुजरूपके दर्शनके लिये प्रार्थना की है—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

(११।४६)

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप! हे सहस्रबाहो! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये।'

इस प्रकार भक्तोंने नाना प्रकारसे भगवान्‌से प्रार्थना (याचना) की है, जिनका विभिन्न ग्रन्थोंमें वर्णन पाया जाता है। प्रार्थना भी भगवान्‌का तत्त्व-रहस्य समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम प्राप्त होनेके लिये ही की जाय तो वह बहुत उत्तम है।

उपर्युक्त छहों साधनोंमेंसे जिस समय जो भी साधन किया जाय, उसे (१) भावसहित अर्थ समझते हुए, (२) परम श्रद्धा, (३) अनन्य विशुद्ध प्रेम और (४) मनोयोगपूर्वक, (५) गुप्त तथा (६) निष्कामभावसे करना चाहिये। इस प्रकार किये हुए साधनका महत्त्व हजारों गुना बढ़ जाता है।

अब इन छहों प्रकारोंके सम्बन्धमें लिखा जाता है—

(१) भावसहित अर्थ समझना—जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थनाका भावसहित अर्थ समझना यह है कि जो कुछ भी जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना की जाय, उसका वास्तविक अभिप्राय (भाव) और तत्त्व-रहस्य क्या है—इसे भलीभाँति समझकर करना।

(२) परम श्रद्धा—किसीमें भी जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास और पूज्यभाव है, उसका नाम 'श्रद्धा' है तथा जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावपूर्वक विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है, जैसे पत्नीसहित राजा द्रुपदको भगवान् शिवजीने यह वर दिया था कि पहले तुम्हारे कन्या उत्पन्न होगी; किन्तु वही बादमें पुरुष बन जायगा—इसके अनुसार उनके कन्या उत्पन्न हुई, किंतु श्रीशिवजीके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करके कन्या रहते हुए भी उसे पुरुष मानकर उसका पुरुषों-जैसे ही 'शिखण्डी' नाम रखा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी उन्होंने दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्माकी पुत्रीके साथ कर दिया। शिवजीके वरदानके अनुसार बादमें शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८—१९२)। इसका नाम प्रत्यक्षसे बढ़कर विश्वास यानी परम श्रद्धा है।

(३) अनन्य विशुद्ध प्रेम—केवल एक भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय हैं। वे ही माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं, उनके सिवा हमारा कोई आत्मीय नहीं है—ऐसा समझकर केवल उनमें ही स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य निष्काम प्रेम हो, उनके सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो, उसको 'अनन्य विशुद्ध प्रेम' कहते हैं। इसे ही गीतामें अनन्य भक्ति कहा गया है (११। ५४-५५; १३। १०; १४। २६)। इन श्लोकोंका भाव विस्तारसहित गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतातत्त्व-विवेचनी' टीकामें देख सकते हैं।

(४) मनोयोग—मन लगाकर साधन करना ही मनोयोगपूर्वक साधन करना है। यह नहीं होना चाहिये कि हम हाथमें माला रखकर जप कर रहे हैं और मन कहीं-का-कहीं जा रहा है। किसी कविने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

इसी प्रकार गीता-रामायण आदिका पाठ करते समय मन कहीं जा रहा है और वाणीसे पाठ हो रहा है। यह पता ही नहीं है कि कहाँ किस स्थलका पाठ चल रहा है तो वह मनोयोगपूर्वक साधन नहीं है।

इसी तरह स्तुति-प्रार्थना आदिके विषयमें समझ लेना चाहिये। अतः उपर्युक्त साधनोंको करते समय मन अन्यत्र कहीं नहीं जाय, निरन्तर साधनमें ही लगा रहे—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

(५) गुप्तभाव—उपर्युक्त साधनोंके द्वारा भगवत्कृपासे कोई विशेष अनुभवयुक्त घटना हो जाय तो उसको तथा इन साधनोंको भी गुप्त रखना चाहिये; किसीसे भी न कहना चाहिये; क्योंकि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी आकाङ्क्षासे कहनेपर अभिमान बढ़ता है और विशेष अनुभव होना बंद हो जाता है। जैसे कपूरभरी डिबियाका मुख खोल देनेपर उसमेंसे कपूर शनैः-शनैः क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार अपने मुखसे अपने गुण, प्रभाव, साधन या उसके फलकी प्रशंसा करनेसे उसका महत्त्व क्षीण हो जाता है। इसलिये गुप्तभावसे साधन करना चाहिये।

(६) निष्कामभाव—ईश्वर, महात्मा, देवता, मनुष्य या अन्य किसी भी प्राणीसे तथा जड पदार्थोंसे भी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, आरोग्य, कष्टनिवृत्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोकके और स्वर्ग आदि परलोकके भी किसी भी पदार्थके लिये किंचिन्मात्र भी कामना, याचना, अभिलाषा, इच्छा कभी न करना 'निष्कामभाव' है।

किंतु भगवान्‌के प्रति परम श्रद्धा और परम प्रेमकी प्राप्तिके लिये,

जप-ध्यान आदि निरन्तर होनेके लिये, भगवत्प्राप्तिके लिये और भगवान्‌के साथ नित्य संयोगके अनुभवके लिये भगवान्‌से जो कामना है, वह निष्कामके ही तुल्य है।

व्यवहारकाल

व्यवहारकालमें निम्नलिखित छः बातोंको काममें लाना चाहिये—

(१) व्यवहारकालमें यानी चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते, व्यवसाय और व्यवहार करते समय निरन्तर भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण रखते हुए ही उन कार्योंको करना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब भगवान्‌का निरन्तर स्मरण रखते हुए युद्ध भी हो सकता है, तब अन्य सब कार्य होनेमें तो आपत्ति ही क्या है ! अर्जुन क्षत्रिय था, अतः उसके लिये युद्ध कर्तव्य था। इसी प्रकार दूसरे वर्णाश्रमवालों और स्त्रियोंको अपने-अपने शास्त्रविहित कर्तव्यका पालन भगवान्‌को निरन्तर स्मरण रखते हुए ही करना चाहिये।

(२) मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं, यह भगवान्‌के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध सदासे है, सदा ही रहेगा—इस प्रकार समझकर भगवान्‌के साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिये।

(३) ये स्थावर-जङ्गम सारे प्राणी भगवान्‌के हैं और इन सबमें भगवान् व्यापक हैं—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे सेवा और आदर-सत्कार करना चाहिये।

(४) जो कुछ भी शास्त्रविहित क्रिया की जाय, उसको भगवान्‌की आज्ञा समझकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌में परम विशुद्ध प्रेम होनेके लिये और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही निष्काम-भावसे करना चाहिये।

(५) जैसे अर्जुनने अपने रथ, घोड़े और घोड़ोंकी बागडोरको भगवान्‌के हाथमें सौंप दिया था। भगवान् जिस प्रकार अर्जुनको चलाते थे, वह वैसे ही चलता था। उसी प्रकार हमलोगोंको अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीररूपी रथको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। भगवान्‌की कठपुतली बनकर रहना चाहिये। जैसे भगवान् नचावें, वैसे ही नाचना चाहिये। यह भगवान्‌की शरणागतिका भाव है। श्रीभगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

'मन्मना भव' के अनुसार मनके द्वारा भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना मनका भगवान्‌में अर्पण है।

'मद्भक्तो भव' के अनुसार बुद्धिके द्वारा 'मैं भगवान्‌का हूँ, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर भगवान्‌में अनन्य प्रेम करना बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण है।

'मद्याजी' के अनुसार सबमें भगवान्‌को समझकर इन्द्रियोंके द्वारा सबकी सेवा-पूजा, सत्कार करना इन्द्रियोंका भगवान्‌में अर्पण है।

'मां नमस्कुरु' के अनुसार देहसे अहंता-ममता उठाकर भगवान्‌के

चरणोंकी सेवामें शरीरको लगा देना शरीरका भगवान्‌में अर्पण है।

इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जानेपर उस भक्तका 'करना' 'होने'में बदल जाता है।

(६) जो कुछ भी सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ, परिस्थिति और घटना प्राप्त हो उस सबको भगवान्‌का विधान अथवा भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार या भगवान्‌की लीला समझकर हर समय राग-द्वेषसे रहित हो सम, संतुष्ट और प्रसन्न रहना चाहिये।

शयनकाल

शयनके समय संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप समझते हुए इसके संकल्पोंके प्रवाहका सर्वथा त्याग करके भगवान्‌में विशुद्ध परम प्रेम होनेके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके संकल्पोंका प्रवाह बहाते हुए शयन करना चाहिये। इससे वह शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो जाता है।

इस प्रकार भक्तियोगका साधन करनेसे भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। अतएव भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारसे भक्तिका साधन करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति

केवल निष्काम कर्मसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और उसमें भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो कल्याण होनेमें बात ही क्या है। जैसे भगवान्‌ने कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(गीता १२। १२)

अभिप्राय यह कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। योगका अभ्यास, शास्त्रका अभ्यास किसी भी प्रकारका जो अध्यात्मविषयक अभ्यास है, उससे ज्ञान श्रेष्ठ है। पर जो अभ्यास ज्ञानपूर्वक नहीं है, उसकी अपेक्षा वह ज्ञान श्रेष्ठ है जहाँ ज्ञान है, पर अभ्यास नहीं है। जो परोक्ष ज्ञान है, उससे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है। किंतु जो परमात्माका साक्षात्—यथार्थ अनुभव यानी अपरोक्ष ज्ञान है, उससे नहीं; तथा परमात्माका जो ध्यान निष्काम नहीं है, ऐसे ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है अर्थात् जहाँ कर्मके फलकी इच्छा नहीं है, ऐसा निष्काम कर्म भगवान्‌के सकाम ध्यानसे श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलके त्यागमें जो त्याग है, उस त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर जो शान्ति मिलती है, वही शान्ति उसे मिल जाती है। इसलिये निष्कामकर्म सबसे श्रेष्ठ है, इसीसे ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ कहा गया है। इसमें कर्मफल-त्यागके साथ ध्यान नहीं है यानी यह ध्यानरहित कर्मफल-त्याग है; क्योंकि ध्यान होनेसे तो ईश्वरकी भक्ति शामिल हो गयी, अतः

वह तो श्रेष्ठ है ही। पर जिस ध्यानके साथ फलत्याग नहीं है, उस सकाम ध्यानकी अपेक्षा वह निष्काम कर्म जिसके साथ ध्यान नहीं है, श्रेष्ठ है। यह केवल कर्मयोग है।

गीताके तीसरे अध्यायके १९वें श्लोकमें भी केवल कर्मयोगका वर्णन है। वहाँ आसक्तिके त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'अर्जुन! इसलिये तू अनासक्त भावसे—आसक्तिरहित होकर कर्तव्य कर्मोंका अच्छी प्रकारसे आचरण कर; क्योंकि अनासक्त भावसे सदा-सर्वदा कर्मोंका आचरण करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

यहाँ साधनके साथ भक्ति नहीं है और कर्मोंके साथ **'सततम्'** शब्द है। अतः इसका यह अर्थ है कि सदा-सर्वदा अनासक्त भावसे कर्मोंका आचरण कर। जहाँ आसक्ति नहीं है, वहाँ कामना है ही नहीं; क्योंकि—

'सङ्गात्संजायते कामः' (गीता २। ६२ का तृतीय चरण)

—आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है। जहाँ आसक्ति ही नहीं, कारण ही नहीं, वहाँ कामनारूप कार्यका अभाव है ही।

ऐसे ही गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें भी भक्तिरहित कर्मयोग है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

जो कर्मोंके फलके आश्रयसे रहित है यानी कर्तव्यकर्म करता है, पर फलका आश्रय नहीं लेता—जिसे कर्मके फलकी इच्छा बिलकुल

नहीं है, ऐसा निष्काम-भावसे कर्म करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ माना गया है। वह संन्यासी है, वह योगी है। किंतु केवल स्वरूपसे जिसने कर्मोंका या अग्निका त्याग कर दिया है, वह न संन्यासी है और न योगी है। वास्तवमें जिसके अन्तःकरणमें उच्चकोटिका भाव है, भीतरमें भी जिसके त्याग है, भीतरमें ज्ञान है, भीतरमें योगका अभ्यास है, परमात्माका ध्यान है, उसके लिये यह नहीं कहा कि वह संन्यासी या योगी नहीं है।

इसी प्रकार कहीं आसक्तिके त्यागकी, कहीं कामनाके त्यागकी बात गीतामें कही गयी है। साथमें भगवान्‌की भक्तिका सम्बन्ध नहीं है। ऐसा कर्मयोग भी मुक्तिको देनेवाला है। गीतामें पाँचवें अध्यायके ११ वें, १२ वें श्लोकमें भी इसका उल्लेख है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥

केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे निष्काम कर्मयोगी—अनासक्त भावसे—आसक्तिसे रहित होकर आत्माकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं; उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर वे परमात्माको पा लेते हैं।

आगे स्पष्ट बतला दिया—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

कर्मयोगसे युक्त यानी निष्काम-भावसे कर्म करनेवाला योगयुक्त पुरुष कर्मफलको त्यागकर निष्ठावाली शान्तिको पा लेता है—जो शान्ति योगनिष्ठाकी या परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है, जिसे परम शान्ति और शाश्वत शान्ति भी कहते हैं तथा जो योगयुक्त नहीं है, वह

कामनाके कारण फलमें आसक्त हुआ कर्मोंके द्वारा बँध जाता है।

इस प्रकार गीतामें जहाँ कहीं भक्तिका बिलकुल सम्बन्ध नहीं बताया गया है, वह कर्म केवल निष्काम कर्म है। यानी जहाँ कामनाका अभाव है, आसक्तिका अभाव है, कर्तव्यबुद्धिसे कर्म किया जाता है, वह केवल निष्काम कर्म है। उससे भी आत्माका उद्धार हो जाता है और उसके साथ भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो उससे उद्धार हो ही जाता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि वह कौन-सा कर्म है। जिस वर्ण-आश्रमके मनुष्यके लिये, जिस पुरुष या स्त्रीके लिये शास्त्रने जो कर्म निश्चित कर दिया है—उसका कर्तव्य बतला दिया है, उस कर्मको निष्काम-भावसे करनेपर उसका कल्याण हो जाता है। जैसे, सुहागिन स्त्रीके लिये पातिव्रत्यधर्मका पालन करना उसका कर्तव्य है। वह निष्काम-भावसे केवल पातिव्रत्यधर्मका पालन करती हुई परमात्माको प्राप्त कर लेती है। इसी प्रकार जिसके माता-पिता जीवित हैं, वह निष्काम-भावसे केवल माता-पिताकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है। उसके लिये माता-पिताकी सेवा परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं। मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(२। २३७)

'माता, पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कर्म सम्पन्न हो जाता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म हैं।'

पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेसे किन-किन स्त्रियोंका उद्धार हो

गया—इसके लिये शास्त्र प्रमाण हैं। श्रीतुलसीदासजी भी रामचरित-मानसके अरण्यकाण्डमें अनसूयाजीने जो सीताजीके प्रति उपदेश दिया था, उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

एकइ धर्म एक व्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

(४। ५,९)

स्त्रीके लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है—मन, वाणी और शरीरसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना। छलका त्याग करके पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली नारी बिना ही परिश्रम परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

इसी प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह पातिव्रत्यधर्मकी महिमा बतलायी गयी है। अनसूयाजी स्वयं पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली थीं—जिनसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशने अंशरूपसे अवतार लिया। ऐसे और भी बहुत-से उदाहरण हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सबकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही उसका निष्काम-भाव होना चाहिये। उसमें किसी प्रकारका भी कहीं भी किंचिन्मात्र भी अपना स्वार्थ नहीं रहना चाहिये। हरेक प्रकारसे हमलोगोंका कर्तव्य है सबकी सेवा करना। यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो शुभ कर्म हैं, उनका भी जो निष्काम-भावसे पालन करता है, उसका निश्चय कल्याण हो जाता है। अवश्य ही भाव निष्काम होना चाहिये, उनमें उसका कोई स्वार्थ नहीं रहना चाहिये।

शूद्रका सब वर्णोंकी सेवा करना धर्म है। वह चारों वर्णोंकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता। किंतु उसमें भी निष्काम-भाव होना चाहिये। इसी प्रकार वैश्य कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य—निष्काम-भावसे

करे तो उसका उद्धार हो जाता है; किंतु जो वैश्य रुपया संग्रह करनेके लिये कर्म (व्यापार) करता है, उस रुपयोंकी कामनावालेका नहीं। जो अपना कोई भी स्वार्थ नहीं रखता और यह समझता है कि खेती, व्यापार या गोरक्षाके द्वारा सबको सुख पहुँचाना है तथा यों सुख पहुँचाकर भी जो बदला कुछ भी नहीं चाहता—उस मनुष्यके भावको निष्काम-भाव कहते हैं। आप दूसरोंकी सेवा करते हुए यदि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं तो वह निष्काम सेवा नहीं है। आप इनकी इच्छा तो नहीं करते, इनकी प्राप्ति आपका उद्देश्य भी नहीं है, पर दूसरे लोग आपका आदर-सत्कार तथा प्रतिष्ठा करते हैं, आपकी कीर्ति गाते हैं और उस सबको सुनकर यदि आपके चित्तमें प्रसन्नता होती है तो वह भी सकाम-भाव है। इस बातको तो मनुष्यको बुद्धिसे या विचारसे हटा देना ही चाहिये कि दूसरे मनुष्य यह कहें कि वाह-वाह ! वाह-वाह !! ये बड़े उच्चकोटिके निष्कामी हैं, बड़े स्वार्थत्यागी हैं। ये शब्द हमको प्रिय नहीं लगने चाहिये, बल्कि इन्हें सुनकर हमको लज्जा होनी चाहिये, मनमें दुःख होना चाहिये।

हरेक काममें यह विचार करना चाहिये कि यह काम जो मैं कर रहा हूँ इसमें कोई मेरी कामना तो नहीं है, मेरी आसक्ति तो नहीं है। जहाँ आसक्ति है, कामना है, वहाँ समझना चाहिये कि वह निष्काम नहीं है। किंतु निष्काम न होनेपर भी सेवा करना उत्तम है। विचार करना चाहिये—कोई मनुष्य किसी भी प्रकारसे दूसरेकी सेवा करता है, दान देता है, उपकार करता है और वह भयसे, लज्जासे या मान-बड़ाईकी इच्छासे करता है तो वह करना भी न करनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। किंतु जो निष्काम कर्म है, उसकी तो बात ही क्या; उसका तो बहुत ही ऊँचा दर्जा है।

मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि किसी भी प्रकारकी कामना निष्काम-भावमें कलङ्क है। शुभ कर्म सकाम-भावसे भी करना अच्छा है; किंतु निष्कामका दर्जा तो बहुत ही ऊँचा है। सकाम और निष्काममें बहुत अधिक अन्तर है; रात-दिनका अन्तर है, इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्यको निष्काम-भावसे आचरण करना चाहिये।

कोई भी मनुष्य कुछ काम करता है तो पहले मनमें यह भाव आ जाता है कि इसको करनेसे मुझको क्या लाभ होगा। यही सकाम-भाव है। इसलिये मेरी इस क्रियासे संसारको कितना लाभ होगा—इस दृष्टिको रखकर कर्म करना चाहिये। अधिक-से-अधिक लोगोंको लाभ हो—यह ध्यान रखना चाहिये और उस लाभके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहना चाहिये, बल्कि देनेपर भी नहीं लेना चाहिये। किंतु याद रखना चाहिये कि कहीं-कहीं लेना भी एक प्रकारसे निष्काम हो जाता है। जैसे कोई साधु, महात्मा, ब्राह्मण या गृहस्थ है, उसे कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर निष्काम-भावसे कुछ देता है, उचित या न्याय समझकर देता है तो उसको निष्काम-भावसे ले लेना देनेवालेके लिये भी हितकर है और लेनेवालेके लिये भी हितकर है। जैसे किसी साधुके पास वस्त्र नहीं है, देनेवाला आग्रह करके देता है और साधुकी भी एक प्रकारसे लेनेकी इच्छा नहीं है, बल्कि अपने फटे-पुराने वस्त्रसे ही काम चलानेकी इच्छा है, किंतु फिर भी वह उसके आग्रह करनेपर उसके संतोष—प्रसन्नताके लिये कुछ स्वीकार कर ले तो उसमें दोष नहीं है। यदि दाताके मनमें यह दुःख हो कि मैं गया-बीता हूँ इसलिये महाराजने मेरी वस्तु स्वीकार नहीं की तो उसके दुःखको दूर करनेके लिये वह वस्तु ले ली जाय तो वह लेना भी न लेनेके समान ही है। इसी प्रकार कोई गृहस्थ है, उसके यहाँ किसीने यह कहलाकर फल आदि भेज दिये कि

हमारे लड़केकी शादीके निमित्त आये हुए ये फल आदि आपके लिये भेजे हैं। उनको न लेनेपर उस दाताको दुःख होता है तो वहाँ कुछ ले लेना भी न लेनेके समान है। इसी तरह किसीके यहाँ हम गये और वह हमें अतिथि समझकर सत्कार करता है और हम उसे स्वीकार नहीं करते, हमारे स्वीकार न करनेसे उसे दुःख होता है तो उस हालतमें हम उसकी दी हुई वस्तु स्वीकार कर लें तो यह लेना न लेनेके ही समान है।

अपने स्वार्थके लिये दूसरेसे सेवा स्वीकार करना तो सकाम है; किन्तु उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है। हरेक बातमें यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हमारे भीतर कोई स्वार्थका भाव तो नहीं है। जो स्वार्थका भाव है, वही हानिकर है। जैसे, अपने लड़के, नौकर या स्त्रीसे काम ले लेते हैं, न लेनेसे उनको दुःख होता है तो उनसे काम करवाना, सेवा लेना न लेनेके समान ही है। हरेक विषयमें ऐसा विचार कर लेना चाहिये कि मैं जो स्वीकार करता हूँ वह उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करता हूँ या अपनी प्रसन्नताके लिये, जहाँ स्वार्थ है वहीं सकाम-भाव है। यह सकाम-भाव निष्काम-भावमें कलङ्क है। पर वास्तवमें जो न्यायसे प्राप्त है, उसे स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है। उत्तम कोटि वह है कि अपनी प्रसन्नताके लिये नहीं, दूसरोंके संतोषके लिये हम स्वीकार करें; वह हमारा निष्काम-भाव है।

इसके सिवा, यह भी विशेषरूपसे खयाल रखना चाहिये कि अपने मनके अनुकूल जो कुछ प्राप्त होता है, उसमें तो राग होता है और जो अपने मनके प्रतिकूल प्राप्त होता है, उसमें द्वेष होता है। किंतु जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ निष्कामता नहीं है। अतएव हरेक काम करते समय राग और द्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। राग-द्वेषसे रहित होकर

विषयोंमें विचरण करना भी कल्याणकारक होता है। यहाँ विषयोंमें विचरणका अर्थ है राग-(रस-) बुद्धिसे रहित हो विषयोंका न्याययुक्त सेवन । जैसे भोजनादि करना न्याययुक्त है, शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक और उचित है। विषयोंमें विचरण करना इस कथनमें आसक्ति झलकती है; इसलिये साथमें यह कहना पड़ता है कि विषयोंमें विचरण करनेका अर्थ आसक्ति—रसबुद्धिसे विषयोंका ग्रहण नहीं समझना चाहिये। किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर केवल शरीर-निर्वाहमात्रके लिये उचित खाना-पीना आदि विषयोंमें जो विचरण करना है, वह निष्काम-भाव है। गीतामें बतलाया गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(२। ६४-६५)

भाव यह कि जिनमें राग-द्वेषका नाम-निशान नहीं है और जो अपने वशमें हैं ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा, जिसका मन भी अपने वशमें है, वह पुरुष विषयोंमें विचरण करता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है यानी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध होनेसे चित्तकी सात्त्विक प्रसन्नता होती है। उस सात्त्विक प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है और उसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें या यों कहें निष्काम कर्मयोगकी निष्ठामें शीघ्र ही स्थित हो जाती है, जिससे वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

निष्काम-भावकी यह महिमा है। यहाँ जो विषयोंमें विचरण करना है—उसमें कोई आसक्ति नहीं है, कोई कामना नहीं है, कोई राग-द्वेष

नहीं है। अपना कर्तव्य समझकर ही वह न्याययुक्त कर्मोंका आचरण करता है। बिना राग-द्वेषके ही केवल इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता है। ऐसा आचरण करनेसे उसका कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर और ममता तथा अहङ्कारसे रहित हो विचरण करता है, वह उस यथार्थ शान्तिको प्राप्त होता है, जो शान्ति परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है। इससे पूर्वके ७० वें श्लोकमें भी आया है—**'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'**—वह वास्तविक शान्तिको प्राप्त होता है, कामना करनेवाला कामी पुरुष कभी शान्तिको नहीं प्राप्त होता। अतः यहाँ उसी वास्तविक शान्तिकी प्राप्तिका वर्णन है।

इस प्रकार केवल निष्काम कर्मसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है, फिर साथमें भक्तिका सम्मिश्रण हो तब तो फिर बात ही क्या है।

* * * * *

सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय

मनुष्यमें अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति हर समय होती रहती है। इनसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं। अनुकूलमें राग होता है और प्रतिकूलमें द्वेष। ये राग-द्वेष ही सारे अनर्थोंकी जड़ हैं। रागसे काम और द्वेषसे क्रोध उत्पन्न होता है—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

(गीता २। ६२ का उत्तरार्ध)

'आसक्तिसे विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।' यहाँ यह शङ्का होती है कि क्रोधका कारण काम है या द्वेष ? इसका उत्तर यह है कि दोनों ही हैं। काम तो क्रोधका निमित्तकारण है और द्वेष उपादानकारण।

इसी प्रकार हर्ष-शोकादि विकार भी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें ही होते हैं। अनुकूलतामें हर्ष और प्रतिकूलतामें शोक होता है। चिन्ता, भय, शोक, ईर्ष्या, वैर, क्रोध—ये सभी द्वेषमूलक प्रतिकूल वृत्तिमें ही होते हैं। इसलिये अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियोंका नाश होनेसे सारे विकारोंका नाश होकर मनुष्यमें स्वाभाविक ही समता आ जाती है। समता ही सिद्ध पुरुषकी कसौटी है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(५। १९)

'जिन शुद्धचित्तवाले मनुष्योंका मन समभावमें स्थित है, उनके

द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

परमात्माकी समता चेतन है; क्योंकि परमात्मा चेतन है। महापुरुषोंमें जो समता है, वह सात्त्विक भाव है; किंतु सात्त्विक भाव होनेपर भी है तो वह प्रकृतिका कार्य ही। प्रकृति जड होनेसे प्रकृतिका कार्यरूप सात्त्विक भाव भी जड ही है। महापुरुषोंकी समता व्यापक और असीम होनेपर भी परमात्माकी समताकी अपेक्षा सीमित ही है; किंतु है यह परमात्मासे ही। या यों समझें कि यह परमात्माका ही आभास है। जैसे दर्पणमें चन्द्रमाका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह चन्द्रमासे ही है और बिम्ब-भूत चन्द्रमाके जैसा ही वह प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहाँ चन्द्रमास्थानीय तो परमात्माकी समता है और चन्द्र-प्रतिबिम्बस्थानीय महात्माओंकी समता है। दर्पणस्थानीय है शुद्धबुद्धि; शुद्धबुद्धिमें ही परमात्माकी समताका प्रतिबिम्ब पड़ता है। कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग—किसीके द्वारा भी पहुँचे हुए महापुरुषोंमें यह समता स्वाभाविक होती है।

कर्मयोगके द्वारा पहुँचे हुए पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके छठे अध्यायके ७-८-९ वें श्लोकोंमें है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—यों कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

तथा भक्तियोगके द्वारा पहुँचे हुए भक्त पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके १२ वें अध्यायके १८-१९ वें श्लोकोंमें है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम और आसक्तिसे रहित है; जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

एवं ज्ञानयोगके द्वारा पहुँचे हुए गुणातीत पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके चौदहवें अध्यायके २४-२५ वें श्लोकोंमें मिलता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समानभाववाला है, जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

किंतु साधक पुरुषमें जो समता है, वह सिद्ध पुरुषकी समताकी नकल है, स्वाभाविक नहीं है। अतः सिद्ध पुरुषमें जो समता है, उसको आदर्श मानकर उसका अनुकरण करना चाहिये। सिद्ध और साधककी समतामें भी अन्तर है। सिद्धमें तो समता स्वाभाविक होती है; किंतु साधकमें समता करनेसे होती है। गीतामें भगवान्‌ने जहाँ भी साधकके लिये समताका उपदेश दिया है, वहाँ **'कृत्वा'**, **'भूत्वा'** आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। जैसे, भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको सम करके यानी उनको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

'हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है।'

यहाँ 'सम करके', 'सम होकर' ऐसे शब्दोंके द्वारा समता करनेका आदेश है। अतः साधकमें समता स्वाभाविक नहीं है।

सर्वत्र समता न होनेमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति ही कारण है। यही राग-द्वेष आदि सारे अनर्थोंकी जड़ है। अतः इसका नाश करना परम आवश्यक है। इसके नाशके लिये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। उनमें ज्ञानयोग (अद्वैतमार्ग) की दृष्टिसे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिके नाशके लिये साधकको यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ भी देखने, सुनने, समझनेमें आता है, वह पदार्थ और जिसके द्वारा देखा, सुना, समझा जाता है, वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि करण— ये सभी मायिक हैं। जैसे मरुभूमिमें जल, आकाशमें नीलिमा, नेत्रविकारसे आकाशमें तिलमिले, मनोराज्यमें पदार्थ, स्वप्नमें नाना प्रकारकी सृष्टि आदि बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये संसारके पदार्थ और करण आदि सभी बिना हुए ही प्रतीत हो रहे हैं। एवं जैसे स्वप्नमें पुरुषको जो कुछ प्रतीत होता है वह उस पुरुषके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं; इसी प्रकार यह संसार परमात्माका संकल्पमात्र है, वस्तुतः कुछ नहीं। इस तरह समझनेसे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिसे उत्पन्न राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा विनाश हो सकता है।

तथा भक्तिमार्गकी दृष्टिसे साधकको यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि संसारमें जो भी कुछ घटना, परिस्थिति, पदार्थ प्राप्त हो रहा है वह सब उन मङ्गलमय भगवान्‌के दयापूर्ण विधान (आज्ञा) से ही हो रहा है। अथवा यह सब हमारे कल्याणके लिये भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार (इनाम) है। ऐसा समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये या सब कुछ भगवान्‌की लीला समझकर प्रसन्न रहना चाहिये। यह प्रसन्नता-संतुष्टि हर्ष-शोकयुक्त नहीं है। यह तो भगवान्‌की प्रसन्नतासे प्रसन्नता है, अपनी अनुकूलताको लेकर नहीं। अनुकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता तो राजसी होनेसे बन्धनकारक, एकदेशीय, क्षणिक और विनाशशील है; किंतु साधक भक्तकी यह प्रसन्नता सात्त्विक होनेसे कल्याणकारक, व्यापक और स्थायी है।

इस प्रकारके अविचल श्रद्धा-विश्वाससे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति-जनित राग-द्वेषादि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हो सकता है।

एवं कर्मयोगकी दृष्टिसे ऐसा निश्चय करना चाहिये कि अनिच्छा या परेच्छासे जो भी अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि प्राप्त है, वह अपने ही पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंका प्रारब्धरूप फल है। सुख देनेवाली अनुकूलता पुण्यका फल है और दुःख देनेवाली प्रतिकूलता पापका फल है। अतः अनिच्छा या परेच्छासे जो भी घटना, पदार्थ, परिस्थिति आकर प्राप्त हो, उसे अपने कर्मोंका प्रारब्धरूप फल समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि उस फलभोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, जो कल्याणकारिणी है।

इस प्रकारके दृढ़ निश्चयसे उसके अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिसे उत्पन्न राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा नाश हो सकता है।

ऊपर ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—तीनों साधनोंकी दृष्टिसे

केवल राग-द्वेषके नाशके लिये सरल तरीका बताया गया है। इसके साथ ही मनुष्यको शीघ्र कल्याण हो—इसके लिये इन तीनों साधनोंमेंसे किसीका भी अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। ज्ञानयोग (सांख्ययोग) का साधन यों करना चाहिये। अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरद्वारा होनेवाले सभी कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' यों समझकर नित्य-निरन्तर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ही अस्तित्वका भाव रहना चाहिये। 'मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त पदार्थ प्रकृतिके ही कार्य हैं—यों समझकर सब क्रिया इनके द्वारा ही हो रही है, मैं कुछ भी नहीं करता'—इस प्रकार सब क्रियाओंको इन्हींपर छोड़ देना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५।८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों (विषयों) में बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निस्संदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता।' तथा—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

(गीता ५।१३)

'अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नौ द्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे छोड़कर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है।'

इस प्रकार गीतामें अन्यत्र भी जहाँ राग-द्वेष और अहंता-ममतासे रहित क्रियाका उल्लेख है, वहाँ भी सांख्ययोगका ही साधन समझना चाहिये। जैसे—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥

(१८।२३)

'जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है।'

इस प्रकार समझकर सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का साधन करना चाहिये।

एवं भक्तियोगके साधकको यों साधन करना चाहिये कि जैसे सांख्ययोगमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंपर ही समस्त शास्त्रविहित क्रियाओंको छोड़ा जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगमें सारी क्रियाओंको भगवान्‌पर छोड़ा जाता है यानी समर्पण किया जाता है। गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(३।३०)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको

मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।'

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(गीता ५। १०)

'जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।' इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५७, ५८ का पूर्वार्ध)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला

हो जा। इस प्रकार मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

जैसे कठपुतली अपने शरीरको और अपनी सारी क्रियाओंको सूत्रधारके अर्पण किये हुए है—सूत्रधार जैसे नचाता है वैसे ही वह नाचती है, उसी प्रकार भक्तिके साधकोंको अपने शरीर और अपनी सारी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। कठपुतलीके तो केवल शरीर ही है; किंतु पुरुषमें तो मन-बुद्धि, इन्द्रिय आदि विशेष हैं। अतः उसे उनको भी भगवान्‌के अर्पण करना है। वास्तवमें कठपुतली-की सारी क्रिया सूत्रधार ही करता है, उसी प्रकार जो अपने-आपको भगवान्‌को सौंप देता है, उसकी भी सारी क्रिया भगवान्‌के द्वारा ही होती है। किंतु यह खयाल करना चाहिये कि भगवान्‌के द्वारा होनेवाली क्रिया भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध नहीं होती। यदि भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध क्रिया होती है तो जानना चाहिये कि वहाँ भगवान्‌का हाथ नहीं, कामका हाथ है। जब अर्जुनने भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

अतएव भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध क्रिया होनेमें राग-द्वेष ही कारण है। जैसे छोटा बच्चा अक्षर सीखते समय क, ख, ग, घ अक्षरों-को लिखनेमें भूल कर देता है; किंतु जब गुरु अपने हाथसे उसके हाथको पकड़कर लिखाता है, तब उसमें भूल नहीं होती; क्योंकि उस लिखनेमें गुरुकी ही प्रधानता है, उसी प्रकार जो अपनेको भगवान्‌के समर्पण कर चुका है, उसके सिरपर भगवान्‌का हाथ रहते हुए उससे जो कुछ क्रिया होती है, उसमें कभी भूल नहीं होती; क्योंकि उन क्रियाओंके होनेमें भगवान्‌की ही प्रधानता है। इस कसौटीसे अपनेको कसकर अपनी क्रियाको देखते रहना चाहिये।

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म किये भी जायँ तो भी वे भगवदर्पणके समान ही हैं; क्योंकि उन कर्मोंमें जो कर्तापन है, वह निर्दोष है। जैसे भगवान्‌ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

अतः यह भगवदर्थ कर्म भगवदर्पणके समान ही है। एवं कर्मयोगके साधकको नीचे लिखी रीतिसे साधन करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

(२ । ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(२ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकार-रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥

(५ । ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

युक्तः कर्म फलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(५ । १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

तथा दूसरे अध्यायका ४८ वाँ श्लोक ऊपर दिया ही जा चुका है।

इन सबके अनुसार मुख्यरूपसे आसक्ति और कर्मफलकामनाका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए कर्तव्य कर्मोंको करना कर्मयोगका साधन है।

ध्यान देना चाहिये। साधन किसी भी दृष्टिसे हो; अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होना ही चाहिये। इनका सर्वथा अभाव नहीं है तो इन सबका त्याग करना चाहिये। और फिर 'त्याग' क्रियाके अभिमानका भी त्याग कर देना चाहिये, अर्थात् त्यागका भी त्याग करना चाहिये। गीतामें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोगके साधनोंका जहाँ-जहाँ प्रकरण आया है, वहाँ-वहाँ अहंता-ममता, राग-द्वेष और कामनाका त्याग तथा संसारसे वैराग्य पद-पदपर बताया गया है। जैसे, गीताके अठारहवें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वेंतक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन है, वहाँ भगवान् कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१८। ५१—५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय

लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।'

यहाँ ५१वें श्लोकमें राग-द्वेषके त्यागका, ५२वेंमें वैराग्यका आश्रय लेनेका तथा ५३वेंमें अहंता, ममता और कामनाके त्यागका स्पष्ट उल्लेख है।

भक्तिके प्रकरणमें कहा गया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

'हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतः भक्तमें आसुरी सम्पदा कभी नहीं रहती। अहंता, ममता, राग-द्वेष, कामना, आसक्ति—ये सभी आसुरी सम्पदा ही हैं। (देखिये गीता अ० १६। ७—२०) एवं भक्तिके साधकके लिये भगवान्‌ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ३-४)

'इस संसार-वृक्षका स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

आगे भगवान् इस साधनसे सिद्ध हुए भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५। ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

यहाँ तीसरे श्लोकमें '**असङ्गशस्त्रेण**' से वैराग्यका, पाँचवें श्लोकमें '**निर्मानमोहाः**'से अहंता-ममताके त्यागका, '**विनिवृत्तकामाः**' से कामनाके त्यागका और '**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः**' से राग-द्वेषके त्यागका संकेत किया गया है।

कर्मयोगके प्रकरणमें बताया गया है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ।'

यहाँ 'वैराग्य' का कथन है ही । तथा—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

(गीता २ । ६४)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ भी अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है ।'

इसमें 'राग-द्वेषके त्याग'का वर्णन है । एवं दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें, जो ऊपर दिया जा चुका है, कर्मयोगीके लिये अहंता-ममता और कामनाके त्यागका उल्लेख है ।

सार बात यह है कि किसी भी साधनसे हो, अनुकूलता-प्रतिकूलतासे उत्पन्न राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हुए बिना समता प्राप्त नहीं होती । समता ही परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान लक्षण और कसौटी है । अतः राग-द्वेषादि दोषोंका अत्यन्त अभाव करनेके लिये अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि, सामर्थ्य और अधिकारके अनुसार उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिये ।

मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय

मनुष्यको यह शरीर अपना कल्याण करनेके ही लिये मिला है। मनुष्येतर जितनी भी योनियाँ हैं वे सभी भोगयोनियाँ हैं, उनमें यदि किसी प्राणीका कल्याण हो गया है तो वह एक अपवाद (रियायत) है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि योनियोंमें तो बुद्धिकी मन्दताके कारण परमात्माके तात्त्विक यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है और यथार्थ ज्ञान हुए बिना कल्याण होना सम्भव नहीं। कहा भी है—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**।' देवताओंमें बुद्धि तो तीक्ष्ण है, किंतु स्वर्गमें भोगोंकी बहुलता होने और देवताओंकी विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण परमात्माको पानेके लिये रुचि तथा प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये उनका कल्याण होनेमें कठिनाई है तथा उन्हें अधिकार भी प्राप्त नहीं है। पर मनुष्यका परमात्माकी प्राप्तिमें अधिकार है। ऐसे अधिकारको पाकर भी यदि मनुष्य कल्याणसे वञ्चित रहे तो यह उसका प्रमाद है और घोर पश्चात्तापका विषय है। श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(उत्तर० ४२। ४, ४३)

मनुष्यके कल्याणमें सबसे प्रधान बाधक बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें आसक्त होकर उन सबके अधीन हो जाना ही है; क्योंकि विषयोंमें आसक्तिवाले यत्नशील विवेकी मनुष्यकी इन्द्रियाँ भी बलात् उसके मनको विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं

(गीता २। ६०)। इसलिये साधकको मनके द्वारा सभी इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माके शरण हो जाना चाहिये (गीता २। ६१)। जबतक मन वशमें नहीं होता तबतक परमात्माकी प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

अतः मनको अपने वशमें और स्थिर करनेके लिये शास्त्रोंमें जो बहुत-से उपाय बताये हुए हैं, उनमेंसे किसी भी उपायके द्वारा मनको निगृहीत और स्थिर करना परम आवश्यक है। मनकी चञ्चलता तो प्रत्यक्ष है। अर्जुनने भी मनके चञ्चल होनेके कारण इसको वशमें करना कठिन बताया है। (गीता ६। ३३-३४) किंतु भगवान् अर्जुनके कथनका समर्थन करते हुए मनको रोकना कठिन मानकर भी इसका उपाय बतलाते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

महर्षि पतञ्जलिजीने भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगदर्शन १। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।' अभ्यासका रूप बतलाते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगदर्शन १।१३)

'उन दोनोंमेंसे स्थितिके लिये जो प्रयत्न करना है, वह 'अभ्यास' है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योगदर्शन १।१४)

'परंतु वह अभ्यास लम्बे समयतक, निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है।'

इस अभ्यासके अनेक प्रकार हैं। जैसे—

(१) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ही परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना और वहीं मनको परमात्मामें लगा देना; क्योंकि परमात्मा सब जगह सदा ही व्यापक हैं; कोई भी ऐसा स्थान या काल नहीं, जहाँ परमात्मा न हों।

(२) मन जहाँ-जहाँ संसारके पदार्थोंमें जाय, वहाँ-वहाँसे उसको विवेकपूर्वक हटाकर परमात्माके स्वरूपमें लगाते रहना (गीता ६।२६)।

(३) विधिपूर्वक एकान्तमें बैठकर सगुण भगवान्‌का ध्यान करना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

(६ । ११—१४)

'शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला * और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा; ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे । काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर अन्य दिशाओंको न देखता हुआ, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे ।'

छठे अध्यायके इस चौदहवें श्लोककी गीतातत्त्व-विवेचनी टीकामें ध्यानके लिये सगुण भगवान्‌के विभिन्न कुछ स्वरूपोंका निरूपण किया हुआ है । उनको पढ़कर उनमेंसे अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचिके अनुरूप किसी भी एक स्वरूपका ध्यान ऊपर बतायी हुई विधिसे करना चाहिये ।

(४) एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय करके तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा उस आनन्दमय परमात्माका ध्यान करना । भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

(६ । २१)

---

* मृगचर्म अपनी मौतसे मरे हुए मृगका होना चाहिये, जान-बूझकर मारे हुए मृगका नहीं । हिंसासे प्राप्त मृगचर्म साधनमें सहायक नहीं हो सकता । पवित्र मृगचर्मके अभावमें ऊन और कुशाका आसन ही पर्याप्त है ।

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने-योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं, (वह योग निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है)।'

इस प्रकार समझकर निर्गुण-निराकार परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्माके यथार्थ तत्त्वका अनुभव होनेपर मन-बुद्धि अचल और स्थिर हो सकते हैं।

(५) पहले सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके, विवेकपूर्वक मनके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, धीरे-धीरे उपरत होकर मनको एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्ममें लगा देना।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २५)

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

(६) निष्काम कर्मद्वारा पदार्थों और कर्मोंमें आसक्तिसे रहित एवं सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित हो जाना। भगवान् कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।'

(७) कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—कोई भी साधन क्यों न हो, उसमें मनुष्यका आहार-विहार, साधन, क्रिया, सोना, जागना—

सभी यथायोग्य और उचित होना चाहिये (गीता ६ । १७) । ये सब यथायोग्य न होनेसे किसी भी योगकी सिद्धि सम्भव नहीं है और इनके यथायोग्य होनेपर जब योग सिद्ध हो जाता है तब मनुष्यका चित्त वैसे ही निगृहीत, अचल और स्थिर हो जाता है जैसे वायुरहित स्थानमें दीपशिखा (गीता ६ । १९) ।

गीताके छठे अध्यायमें भगवान्‌ने आत्मा यानी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिके संयमके बहुत-से उपाय बताये हैं, इसीलिये इस अध्यायका नाम ही है आत्मसंयमयोग । उनमेंसे कुछ उपायोंका ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है । इन उपायोंमेंसे कोई-सा भी उपाय करें तो मन संयत और स्थिर होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । गीतादि शास्त्रोंमें और भी बहुत-सी युक्तियाँ है, उनको विवेकपूर्वक भलीभाँति समझकर काममें लाना चाहिये ।

(८) अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबके द्वारा, सब प्रकारसे ईश्वरके शरण हो जाना । योगदर्शनमें बताया गया है—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा । (१ । २३)

'ईश्वरकी शरणागतिसे भी (समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है) ।'

(९) प्राण और मनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्राणोंके निरोधसे मनका निरोध हो जाता है और मनके निरोधसे प्राणोंका निरोध हो जाता है । इसलिये प्राणायामका साधन करना चाहिये । श्रीपतञ्जलिजी बताते हैं—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य । (योगदर्शन १ । ३४)

'प्राणवायुको बारम्बार बाहर निकालने और रोकनेके अभ्याससे भी चित्त निर्मल होकर एकाग्र हो जाता है ।'

भगवान् श्रीकृष्णने भी गीताके चौथे अध्यायके २९ वें, ३० वें श्लोकोंमें यज्ञके रूपकसे प्राणायामको परमात्माकी प्राप्तिका साधन माना है । इसके सिवा, वहाँ श्लोक २४ से २८ तक और भी दस साधन

बताये हैं, जो सभी मनको एकाग्र और वशमें करनेके लिये परम लाभदायक हैं।

(१०) जैसे उन्मत्त हाथीको वशमें करना कठिन है, उसी प्रकार मनको वशमें करना बड़ा कठिन है; फिर भी जैसे हाथी अङ्कुशसे वशमें हो जाता है, वैसे ही यह मन साधनसे वशमें हो जाता है। मनपर विजय प्राप्त करनेके उपाय योगवासिष्ठमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।

(उपशमप्रकरण ९२। ३५, ३६ का पूर्वार्ध)

'अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं।'

अभिप्राय यह कि अध्यात्मविषयक शास्त्रोंका मनन करके उनका ज्ञान प्राप्त करनेसे, अध्यात्मविषयके ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे अध्यात्म और ध्यान आदिके विषयमें वार्तालाप करने और उनसे मनको रोकनेकी युक्तियाँ सुन-समझकर उनके अनुसार अभ्यास करनेसे, सांसारिक विषयभोगोंकी वासनाओंको अत्यन्त हानिकारक समझकर विचारद्वारा उनका भलीभाँति त्याग करनेसे तथा युक्तिपूर्वक प्राणायाम करनेसे मन वशमें और एकाग्र होता है।

ऊपर अभ्यासके कई प्रकार बतलाये गये। जैसे अभ्याससे मन वशमें होकर निरुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार संसारसे वैराग्य होनेपर भी हो जाता है। वैराग्यका रूप श्रीपतञ्जलिजीने इस तरह बतलाया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १। १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योगदर्शन १।१६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'परवैराग्य' है।'

संसारसे वैराग्य होनेके अनेक उपाय हैं—

(१) परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर स्वतः ही वैराग्य हो जाता है।

(२) जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करनेसे भी वैराग्य होता है—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ (गीता १३।८ का उत्तरार्ध)

श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

(योगदर्शन २।१५)

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब कर्मफल दुःखरूप ही हैं।' अर्थात् दुःख तो दुःख है ही, विवेककी दृष्टिसे सुख भी दुःख ही है।

भाव यह कि संसारके पदार्थ, विषयभोग और शरीर—सभी प्रत्यक्ष ही दुःखरूप, परिणामी, क्षणभङ्गुर और विनाशशील हैं; स्त्री, पुत्र, पति, शरीर, धन, सम्पत्ति आदि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष ही कालके मुखमें जा रहे हैं—ऐसा विवेक-विचारपूर्वक समझनेसे स्वाभाविक ही संसारसे वैराग्य हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

(३) वीतराग महापुरुषोंके सङ्गसे भी वैराग्य उत्पन्न होकर चित्त वशमें हो सकता है।

(४) संसारके पदार्थों और भोगोंमें रमणीयता और सुखबुद्धि न रहनेसे भी वैराग्य हो जाता है।

(५) जिनमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका एवं जगत्‌के यथार्थ स्वरूपका वर्णन हो उन सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे भी वैराग्य हो सकता है।

(६) भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, धामके सम्बन्धमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रवण, मनन और चिन्तन करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर स्वतः ही संसारसे वैराग्य हो सकता है।

इसी तरह अभ्यास और वैराग्यके और भी अनेक प्रकार हैं। जिस किसी प्रकारसे हो, कल्याणकामी मनुष्योंको अपने मनको वशमें करके परमात्मामें तत्परतासे लगना चाहिये। व्यवहारकालमें तो यह मन चञ्चल रहता ही है, एकान्तमें आत्मकल्याणके साधनके लिये बैठनेपर भी मन इधर-उधर भटकता रहता है। अतः यदि इसके निग्रहका उपाय नहीं किया जायगा तो साधकका अबतक जिस तरह समय बीतता आया है वैसे ही भविष्यमें बीतता रहेगा। इससे यह मनुष्य-जन्मका अमूल्य समय व्यर्थ चला जायगा। अतः मनुष्य-जन्मके समयको

सार्थक बनानेके लिये शीघ्र-से-शीघ्र इस मनके निग्रहका साधन करना आवश्यक है; क्योंकि अनादिकालसे जो अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति होती आ रही है, वह साधन करनेसे ही दूर हो सकती है।

यह मन ही मनुष्यका मित्र है और मन ही शत्रु है। जीता हुआ मन तो मित्र है और जो मन जीता हुआ नहीं है वह शत्रु है। भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(६।६)

'जिस मनुष्यद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस मनुष्यका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों-सहित शरीर नहीं जीता गया है उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

भगवान्‌के इस कथनपर भलीभाँति ध्यान देना चाहिये और अपने सुधारके लिये तत्पर हो जाना चाहिये। मनुष्यका अभ्यास बड़ा प्रबल होता है। वह दिनमें जैसा मनन करता है, उसके अनुसार रात्रिमें स्वप्नमें प्रायः वैसा ही मनन स्वाभाविक होता रहता है। इसलिये हर समय ही भगवान्‌के स्वरूपका मनन करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। नहीं तो, मनुष्यके अधिकारमें जो भी कुछ सम्पत्ति, बल, बुद्धि आदि पदार्थ हैं वे फिर क्या काम आयेंगे? मृत्यु होनेके पश्चात् ये सब यहीं रह जायँगे। अतः उनको और अपने सर्वस्वको लगाकर भी जिस किसी प्रकारसे भी हो, मनको वशमें करनेके लिये वैराग्ययुक्त चित्तसे कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त तत्परतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये।

गीतोक्त अनन्य प्रेमका साधन और उसका फल

एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर, जरा भी स्वार्थ, अभिमान और कामना न रखकर एकमात्र भगवान्‌में ही अतिशय श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना और भगवान्‌से भिन्न किसी भी वस्तुमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेम न करना—यह अनन्य प्रेम है। अनन्य प्रेमके साधनका स्वरूप और फल गीतामें इस प्रकार बताया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान आदिद्वारा मुझमें निरन्तर रमण करने और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने ९ वें श्लोकमें अनन्य प्रेमी भक्तके लक्षणोंके रूपमें छः साधन बतलाये हैं और १० वें श्लोकमें उनका फल बतलाया है। अब इनके विषयमें कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

'मच्चित्ताः'

जैसे संसारी मनुष्य रात-दिन संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं, वैसे ही भगवान्‌के प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही रचे-पचे रहते हैं तथा जैसे संसारी मनुष्य हर समय मनसे संसारका ही चिन्तन करते रहते हैं, वैसे ही भगवद्भक्त हर समय मनसे भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहते हैं। भगवान्‌से मिलनेके इच्छुक साधक भक्त मनसे भगवान्‌का आह्वान करके भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, पूजा, आदर, सत्कार और विनोद करते रहते हैं। सर्वप्रथम भक्त भगवान् श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके चरणोंसे लेकर मस्तकतक वस्त्र-आभूषण-आयुध आदिके सहित उनके स्वरूपका श्रद्धा-प्रेमसे चिन्तन करता है। फिर मनसे ही अपने सम्मुख प्रकट मानसिक भगवान्‌के स्वरूपका मानसिक सामग्री और अपने मानसिक शरीरके द्वारा षोडश उपचारोंसे पूजन करता है। तत्पश्चात् आत्मीयतापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करता है तथा मनसे ही उनके साथ आमोद, प्रमोद और विनोद करता हुआ आश्रम, घर या वनमें विचरण करता रहता है। जहाँ-जहाँ भगवान्‌के चरण टिकते हैं उस-उस भूमिमें भगवान्‌का प्रभाव प्रवेश कर जाता है; इसलिये उस भूमिकी रजको परम पवित्र और कल्याणकारिणी हो गयी समझता है। जिस बिछौने, गद्दे या सतरंजीपर बैठकर भगवान्‌के साथ भक्त मनसे वार्तालाप करता है, उस सतरंजी और गद्दे आदिमें मानो भगवान्‌के दिव्य गुण-प्रभावके परमाणु प्रवेश कर गये, इसलिये उस सतरंजी गद्देको छूनेसे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं और हृदय प्रफुल्लित होता रहता है। जैसे दो सखा आपसमें प्रेमकी बातचीत करते हैं, वैसे ही वह भगवान्‌के साथ दिव्य प्रेमकी मनसे ही बातचीत करता रहता है। प्रेमभरे नेत्रोंसे वे एक-दूसरेको देखते हैं। भगवान्‌के हृदयमें और नेत्रोंमें समता, शान्ति,

ज्ञान, प्रेम आदि अनन्त दिव्य गुण भरे पड़े हैं, भगवान् मुझपर अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात करते हैं जिससे वे गुण मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और रोम-रोममें ऐसे प्रवेश कर रहे हैं कि उनमें समता, शान्ति, ज्ञान, आनन्द और प्रसन्नताकी सीमा ही नहीं रही। मानो मैं गुणोंके सागरमें डूबा हुआ हूँ, ऐसा उसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भगवान्‌के नेत्रोंकी दृष्टि जहाँ-जहाँ पड़ती है वे सब वस्तुएँ दिव्य अलौकिक कल्याणदायक हो जाती हैं—ऐसा अनुभव होने लगता है। फिर मानो भगवान् और भक्त दोनों एक साथ भोजन करने बैठे हैं और एक-दूसरेको परोस रहे हैं। भगवान्‌के स्पर्शसे वह भोजन दिव्य अलौकिक रसमय परम मधुर हो गया है। वह भोजन करनेसे सारे शरीरमें इतनी प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति और तृप्ति हो रही है कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान्‌के अङ्गसे जिस वस्तुका स्पर्श हो जाता है वह भी दिव्य रसमय, आनन्दमय, शान्तिमय, प्रेममय और कल्याणमय हो जाती है। भगवान् जिसको अपने मनसे स्मरण कर लेते हैं, वह वस्तु भी परम शान्ति, परमानन्द और परम कल्याणदायिनी हो जाती है। भगवान्‌में दिव्य सुगन्ध आती है, वह नासिकाके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल और मधुर है, वह कानोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चरणस्पर्श हाथोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चिन्तन मनके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका जो तात्त्विक ज्ञान है, वह बुद्धिके लिये अमृतके समान है। इस प्रकार उनका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, आमोद, प्रमोद आदि सभी रसमय, आनन्दमय, प्रेममय और अमृतमय है। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—सभी परम मधुर, दिव्य, अलौकिक और रसमय हैं। यों

चिन्तन करते हुए वे प्रेमी भक्त अपने चित्तको सर्वथा भगवन्मय बना देते हैं, भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें उनके मनकी प्रीति और वृत्ति नहीं रहती; अतः वे भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूल सकते। एक भगवान्‌में ही उनका मन तन्मय होकर निरन्तर लगा रहता है।

'मद्गतप्राणाः'

वे प्रेमी भक्त उपर्युक्त भगवान्‌के श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शनके लिये उनको अपना जीवन, धन, प्राण—सर्वस्व समझकर अपने जीवनको उन्हींके अर्पण कर देते हैं। फिर उनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होने लगती हैं। उनका जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है। उन्हें क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है। उनको भगवद्दर्शनके बिना चैन नहीं पड़ती, न रातको नींद आती है और न दिनमें भूख लगती है। भगवान्‌के सिवा कोई भी पदार्थ उन्हें अच्छा नहीं लगता। भगवान्‌के वियोगमें वे जलके बिना मछलीकी भाँति तड़फते रहते हैं। जैसे मछलीके प्राण जलगत हैं, उसी प्रकार उनके प्राण भगवद्गत हो जाते हैं। वे गोपियोंकी तरह विरहाकुल, पागल और उन्मत्त-से हुए भगवान्‌को ही खोजते-फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन-प्राण—सबको भगवान्‌के न्योछावर कर देते हैं, उनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो जाता है। उन्हें खाने-पीने, बोलने, चलने आदिकी भी सुध-बुध नहीं रहती। यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, पशु आदि किसीकी भी परवा नहीं रहती। वे सबसे निर्भय होकर विचरते हैं। शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाका भी उन्हें ज्ञान नहीं रहता। मन, तन, धन, जीवन, प्राण, सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देनेके कारण भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें भी उनकी प्रीति और ममता नहीं रहती। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तके सम्बन्धमें ही श्रीसुन्दरदासजीने यह कहा है—

न लाज तीन लोककी न वेदकी कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी न देव यक्ष तें डरै॥
सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात भक्ति प्रेम लच्छना॥

'बोधयन्तः परस्परम्'

जैसे गोपियाँ भगवान्‌के प्रेमके तत्त्व-रहस्यको परस्पर एक-दूसरीको कहती और समझाती रहती थीं, वैसे ही वे भगवत्प्रेममें मग्न हुए प्रेमी भक्त अपने प्रेमी मित्रोंके साथ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, प्रेम, गुण, प्रभावकी चर्चा करते हुए एक-दूसरेको उनका तत्त्व-रहस्य समझाते रहते हैं एवं अपने परम प्रिय भगवान्‌की लीला, चरित्र, महिमा तथा भगवान्‌के माधुर्य, रूप-लावण्य, वस्त्र, आभूषण, नाम और गुण-प्रभाव आदिके सम्बन्धमें परस्पर वार्तालाप करते-करते उस विशुद्ध परम प्रेम और आनन्दमें तन्मय और मुग्ध हो जाते हैं।

'कथयन्तश्च माम्'

इसी प्रकार वे भक्त भगवान्‌के प्रेमी भक्तों तथा अपने प्रिय सखाओंके सम्मुख भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और गुणोंका गान करते रहते हैं। एवं भगवान्‌के साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण स्वरूपके तत्त्व-रहस्यका, भगवान्‌के चरित्र और दिव्य लीलाओंका, भगवान्‌के नामकी महिमाका, भगवान्‌के नित्य परम धामके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यका तथा भगवान्‌के दिव्य अलौकिक अनन्त नानाविध गुणोंके तत्त्व-रहस्यका पुस्तक, व्याख्यान और पत्र-व्यवहार आदिके द्वारा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक वर्णन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे भगवत्प्रेमके आनन्दमें विह्वल और मग्न हो जाते हैं। फिर भी, इन सबका वर्णन करनेसे वे कभी अघाते ही नहीं।

'नित्यं तुष्यन्ति च'

वे भक्त ऊपर बतायी हुई बातोंसे ही हर समय संतुष्ट रहते हैं। इनसे बढ़कर किसीको भी आनन्ददायक नहीं समझते। वे भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर तृप्त और संतुष्ट रहते हैं, परम शान्ति और परमानन्दके दिव्य रसमें हर समय मग्न रहते हैं। वे आमोद-प्रमोदपूर्वक हर समय इतने प्रसन्नचित्त रहते हैं कि भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी उस आनन्दकी स्थितिसे विचलित नहीं होते, वरं अपने इष्टदेवके नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावको स्मरण करते हुए परम आनन्दमें ही मस्त रहते हैं। अपने परम प्यारे इष्टदेव परमात्माकी प्रेममयी लीला और चरित्रको मनसे ही देख-देखकर सदा परम संतुष्ट रहते हैं तथा भगवान्‌के परम मधुर स्वभाव, महिमा और रूपमाधुरीके तत्त्व-रहस्यको समझकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं।

'रमन्ति च'

वे परम प्रेमी भक्त भगवान्‌के साथ ही अलौकिक दिव्य आमोद-प्रमोदपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं। वे निरन्तर एक भगवान्‌में ही सर्वथा रमण करते रहते हैं। अपने परम प्यारे भगवान्‌में दिव्य अलौकिक सुगन्ध आती रहती है, उसका नासिकासे आस्वाद लेना नासिकाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के प्रसादको पाकर जिह्वाके द्वारा उसका आस्वाद लेना जिह्वाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नेत्रोंसे नेत्र मिलाकर, उनके नेत्रोंमें जो एक अलौकिक दिव्य प्रेम, रस और ज्ञानयुक्त ज्योति है उसको देखते रहना नेत्रोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के चरणोंका हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नूपुर, वंशी आदिकी ध्वनिको तथा उनकी प्रेमभरी कोमल मधुर वाणीको सुन-सुनकर आस्वाद लेना कानोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रूप, लीला आदिका चिन्तन करना मनसे भगवान्‌में रमण करना है तथा

भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर मुग्ध होते रहना बुद्धिके द्वारा उनमें रमण करना है। इस प्रकार भगवान्‌का आघ्राण, प्रसाद-भोग, दर्शन, स्पर्श, भाषण, श्रवण, चिन्तन, मनन आदि सभी परम मधुर, रसमय, प्रेममय, अमृतमय, आनन्दमय हैं—ऐसा समझकर वे प्रेमी भक्त अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर उनसे उनके दर्शन-भाषण आदि करनेमें ही अत्यन्त अनुपम रसास्वाद लेते हुए भगवान्‌में ही नित्य-निरन्तर रमण करते रहते हैं। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध दिव्य प्रेम था। उनके मन, प्राण और समस्त चेष्टाएँ एकमात्र अपने प्राणधन प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्णके ही अर्पित थीं और वे भगवान्‌के गुणोंका गान करती हुई उनके प्रेममें ही सदा मग्न रहती थीं। भागवतकार बतलाते हैं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।४४)

'गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे श्रीकृष्ण-चर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णपरक चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कहें, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था। वे केवल श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही।'

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझकर श्रद्धा-विश्वास और अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर मनसे चिन्तन, दर्शन, भाषण, चरण-स्पर्श करना ही भगवान्‌को

प्रीतिपूर्वक विशुद्ध, निष्कामभावसे भजना है। इस प्रकार भगवान्‌को भजनेवाले भक्त मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, ऐश-आराम, भोग और त्रिलोकीके ऐश्वर्यको तथा मुक्तिको भी नहीं चाहते। वे केवल विशुद्ध प्रेमके लिये ही भगवान्‌को अनन्य भावसे भजते हैं।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है, वह मेरे सिवा न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका। उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी होना चाहता है तथा वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता।'

ऐसा अनन्य विशुद्ध प्रेम करनेवाले भक्तको भगवान् वह बुद्धि योगरूप विज्ञानसहित ज्ञान दे देते हैं जिससे भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका तत्त्व-रहस्य यथावत् समझमें आ जाता है और उसके फलस्वरूप उसे परम प्रेमास्पद भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌की प्राप्ति होनेके पश्चात् उसे केवल भगवान्‌का ही अनुभव रहता है। वह अपने-आपको भी भूल जाता है। होश आनेके बाद उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के ही मन और संकेतके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति स्वाभाविक ही होती रहती हैं। फिर भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये ही होती है। उनमें परस्पर नित्य नया प्रेम सदा-सर्वदा समानभावसे जाग्रत् रहता है। परस्पर दोनोंकी चेष्टा एक-दूसरेको आह्लादित करनेके लिये ही

होती है जो कि एक-दूसरेके लिये लीलारूप है। प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनका नाम-रूप अलग-अलग है, परंतु वस्तुतः तीनों एक ही हैं। जैसे सुवर्णके आभूषणोंके नाम-रूप अलग-अलग होते हैं किंतु वस्तुतः वे स्वर्ण ही हैं। इसी प्रकार परम दिव्य चिन्मय प्रेमस्वरूप परमात्मा ही प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम नामसे व्यवहृत हुए हैं। भक्तकी दृष्टिमें तो भक्त प्रेमी, भगवान् प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है तथा भगवान्‌की दृष्टिमें भगवान् प्रेमी, भक्त प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है, अतः भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तके लिये लीला है और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये लीला है। एक-दूसरेकी चेष्टा एक-दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही होती है।

वहाँ एक-दूसरेके साथ लज्जा, मान, भय, आदर-सत्कार किंचिन्मात्र भी नहीं रहते। वस्तुतः वे तो एक ही हैं, अतः कौन किसका किससे किसलिये लज्जा, मान, भय, आदर-सत्कार करे। दास्य और वात्सल्यभावमें तो आदर-सत्कार और भय रहते हैं, कान्ताभावमें भी आदर-सत्कार रहते हैं तथा सख्यमें भी लज्जा रहती है; किंतु यहाँ तो परस्पर लज्जा, भय, मान, आदर-सत्कारका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि भगवान्‌की प्राप्ति होनेके साथ ही दास्य, सख्य, कान्ताभाव, वात्सल्य, शान्त आदि सारे भावोंका उस भक्तमें समावेश हो जाता है तथा वह केवल विशुद्ध चिन्मय परम प्रेमस्वरूप भगवान्‌को प्राप्त हो जानेके कारण इन भावोंसे ऊपर उठ जाता है। यह परम विशुद्ध दिव्य अलौकिक प्रेमकी प्राप्ति रहस्यमय है। इसका कोई वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकता।

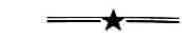

अन्तकालमें हुए परमात्मचिन्तनका महत्त्व

शास्त्रोंमें भगवान्‌के निर्गुण और सगुण—दो स्वरूप बतलाये गये हैं। इन दोनोंमें जो निर्गुण है, वह तो निराकार है ही। सगुणके दो भेद हैं—(१) सगुण-निराकार, (२) सगुण-साकार। भगवान्‌के इन तीनों स्वरूपों-मेंसे किसी एकका भी चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह छोड़कर जाता है, वह सदाके लिये इस संसारसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। उस परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिको ही अव्यक्त, अक्षर, परमगति, परमधाम आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता ८। २१)

'जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्त भावको परमगति कहते हैं; तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परमधाम है।'

भगवान् कहते हैं कि जो मेरा स्मरण करता हुआ मरता है, वह मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात्स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

यदि कोई मनुष्य ऐसा कहे कि क्या भगवान् भी पक्षपाती हैं, जो

उन्हें स्मरण करनेवालेका तो उद्धार कर देते हैं और स्मरण न करनेवालेका उद्धार नहीं करते, तो वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। भगवान् तो समदर्शी हैं, पक्षपाती नहीं, उनकी तो सबपर समानरूपसे कृपा है। परंतु यह एक साधारण नियम है कि मरणकालमें मनुष्य जिस-जिस देवता, मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष एवं पहाड़ आदिका स्मरण करके देह-त्याग करता है, वह उसी रूपको प्राप्त हो जाता है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

भगवान् इस नियमको बतलाकर कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जैसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथिरूपमें रथपर विराजमान रहते थे, वैसे ही भगवान्‌को सर्वत्र अपने साथ समझनेसे हर समय उन सगुण-साकार परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन होना सहज ही है और मनुष्य निरन्तर जिस वस्तुका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी उसी वस्तुकी स्वाभाविक स्मृति हो जाती है। अतः भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य शरीर छोड़ता है, वह

भगवान्‌के सगुण स्वरूपको प्राप्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है।

यह बात बतलाकर अब सगुण-निराकारके चिन्तनसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है यह बतलाया जाता है। सर्वव्यापी, सगुण-निराकाररूप परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य मरता है, वह भी उस चिन्तनके प्रभावसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(गीता ८। ८—१०)

'हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है। जो पुरुष सर्वज्ञ, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म, सबको धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भ्रुकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

वह परम दिव्य पुरुष परमात्मा अव्यक्त, निराकार, सर्वव्यापी है और यह सारा संसार उस परमात्माके ही एक अंशमें स्थित है। जैसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन चारों महाभूतोंका समूह एक अव्यक्त, निराकार आकाशके ही अन्तर्गत है और आकाश इन चारोंमें व्यापक है, उसी तरह परमात्मा सम्पूर्ण चराचर भूत-प्राणियोंके बाहर-भीतर व्यापक है और सारे भूत-प्राणियोंका समूह उस परमात्माके ही किसी एक अंशमें है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ (गीता ८। २२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परमपुरुष परमात्मा तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

जैसे मनुष्य सगुण-साकार और सगुण-निराकारके चिन्तनसे परमात्माको प्राप्त होता है, उसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य शरीरका त्याग करता है, वह भी परमगतिस्वरूप निर्गुण सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस परम अक्षरस्वरूप परमात्माकी महिमा बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

(गीता ८। ११)

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा।'

इस निर्गुण-निराकार परमात्माको ही परम अक्षर ब्रह्मके नामसे कहा गया है।

'अक्षरं ब्रह्म परमम्' (गीता ८। ३ का प्रथम पाद)

इस अक्षर ब्रह्मका ही नाम **'ओम्'** है। इसलिये अन्तकालमें ओंकारका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मुझ सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागकर जाता है, वह परमगतिको अर्थात् परमात्माको प्राप्त होता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

इस प्रकार भगवान्‌के उपर्युक्त तीनों स्वरूपोंमेंसे किसी एकका भी स्मरण करता हुआ मनुष्य यहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है अथवा अर्चिमार्गसे जाकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

(गीता ८। २४)

'जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।'

यहाँ **'ज्योतिः'** पद **'अग्निः'** का विशेषण है और **'अग्निः'** पद अग्नि अभिमानी देवताका वाचक है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है। पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायण-मार्गसे जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायणमार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसको रात्रिभर यह अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें

मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

इसी तरह दिनके अभिमानी देवताका अधिकार पृथ्वीलोककी सीमा अर्थात् जहाँतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक है और उत्तरायणमार्गसे जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है।

शुक्लपक्षके अभिमानी देवताका अधिकार भूलोककी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात होती है, वहाँतक है; और उत्तरायणमार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है।

जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक **'षण्मासा उत्तरायणम्'** है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने समयकी ही रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गसे जानेवाले परमधामके अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित (छान्दोग्य-उ० ४।१५। ५; ५।१०।१,२; बृहदारण्यक-उ० ६।२।१५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत् अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्‌के परमधामसे भगवान्‌के पार्षद (अमानव पुरुष) आकर उसे परम-धाममें ले जाते हैं, तब उसका भगवान्‌से मिलन हो जाता है।

उस ब्रह्मरूप परमपदको प्राप्त होकर वह पुनः इस संसारके जन्म-मरणरूप चक्करमें नहीं आता। ब्रह्माके लोकतक गया हुआ प्राणी पुनः इस संसारमें लौटकर कर्मानुसार योनिमें जन्म लेता है; क्योंकि ब्रह्मा

और उसका लोक—दोनों ही अवधिवाले हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

(गीता ८ । १६ का पूर्वार्ध)

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

(गीता ८ । १७)

'ब्रह्माका जो एक दिन है उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ।'

चारों युगोंके समयको मिलानेपर एक दिव्ययुग होता है । कलियुग ४,३२,००० वर्ष, द्वापर ८,६४,००० वर्ष, त्रेता १२,९६,००० वर्ष एवं सत्युग १७,२८,००० वर्ष । इस तरह कुल ४३,२०,००० वर्षोंका एक दिव्ययुग होता है । देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे ३६० गुना अधिक माना जाता है, अतः एक हजार दिव्य-युगोंका अर्थात् हमारे ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात्रि होती है । इस तरहके १०० वर्ष बीत जानेपर अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है । इस विषयका विशद वर्णन मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें ६४वेंसे ७३ वें श्लोकतक है ।

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं ।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

(गीता ८ । १८)

इस प्रकार अवधिवाले होनेसे ब्रह्मा और ब्रह्माका लोक भी अवधि पूर्ण होनेपर विनाशको प्राप्त हो जाते हैं। इन सबका विनाश होनेपर भी सच्चिदानन्दघन परमात्माका नाश नहीं होता—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(गीता ८। २०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष परमात्मा सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

निरन्तर अभ्यासके प्रभावसे मनुष्यको इस जीवनकालमें ही परम दिव्य पुरुष परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि निरन्तर स्मरण करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति सुगम है। भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमका स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इस प्रकार अभ्यास करनेवालेको जब इस जन्ममें ही भगवान् मिल सकते हैं, तब अन्तकालमें मिल जाते हैं—इसमें तो कहना ही क्या है। परमात्माको हर समय याद रखना भी कोई कठिन काम नहीं है और जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह फिर दुःखरूप इस संसारमें लौटकर कभी नहीं आता—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(गीता ८। १५)

'परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

वह पुरुष सम्पूर्ण संसारका उल्लङ्घन करके परमपदरूप परमात्माको सदाके लिये प्राप्त हो जाता है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८।२८)

'योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निस्संदेह उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त होता है।'

गीताके इस आठवें अध्यायमें मनुष्यके मरणकालमें हुए भगवच्चिन्तनके विशेष महत्त्वका वर्णन है। अतः मृत्युके समय पुरुषको अर्थसहित यह अध्याय अवश्य सुनाना चाहिये। यदि सारा-का-सारा अध्याय न सुनाया जा सके तो ऊपर जिन श्लोकोंका वर्णन आया है, कम-से-कम ये खास-खास श्लोक तो अवश्य ही अर्थसहित सुना देने चाहिये; क्योंकि इन श्लोकोंमेंसे मनुष्य एक श्लोकके भी अर्थ और भावको समझकर धारण कर लेता है तो सहजमें ही उसका कल्याण हो सकता है। फिर जो सदा-सर्वदा हर समय भगवान्‌के सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार—किसी भी स्वरूपको याद रखता है, उसके लिये तो अन्तकालमें परमात्माकी स्मृति हो जानी बहुत ही सहज है।

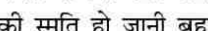

अनन्य भक्ति-साधनका स्वरूप

[एक कन्याका दृष्टान्त]

गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५४)

'परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

अनन्य भक्तिका साधन किस प्रकार करना चाहिये, इस विषयमें एक कन्याका दृष्टान्त बतलाया जाता है। राजस्थानके एक गाँवमें एक सुन्दर चौदह वर्षकी तरुणी अविवाहिता कन्या थी। उस कन्याकी विवाहके योग्य अवस्था देखकर उसके सम्बन्धके लिये पिता सदा चेष्टा करते रहते थे। एक बार एक अच्छे प्रतिष्ठित विद्वान् ब्राह्मणसे उसके पिताने कहा—'मेरी कन्याका सम्बन्ध अवश्य करना है।' उस ब्राह्मणने खोजकर एक अच्छे वरकी व्यवस्था कर दी और कहा—'वर बहुत ही सदाचारी, सद्गुणी, सुशील, वैभव-सम्पन्न और सुन्दर है। उसके समान दूसरा कोई भी नहीं है। ऐसा वर मिलना कठिन है; किंतु उसके माता-पिता नहीं हैं।' ब्राह्मणने वरके पास भी यह समाचार पहुँचा दिया कि 'कन्या बड़ी सुन्दर, सुशील और युवा है।' इस प्रकार दोनोंको समझाकर सम्बन्ध करवा दिया। सम्बन्ध होनेके बाद उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने

वरके द्वारा कन्याके लिये भेजे हुए अधोवस्त्र (साड़ी), उत्तरीय वस्त्र (ओढ़ना), कब्जा और पायजेब आदि पैरोंके गहने, रत्नजटित करधनी, दोनों हाथोंकी दस स्वर्णकी चूड़ियाँ, कड़े, कंगन, बँगड़ी, बाजूबन्द आदि हाथोंके गहने, गलेमें पहननेका रत्नजटित स्वर्णका कँठला, वक्षःस्थलपर धारण करनेका चन्द्रहार, कंठी, मोहनमाला, गलपटिया आदि, नाकको नथ, कानोंकी बालियाँ और कर्णफूल, मस्तककी चूडामणि एवं सिन्दूर आदि सौभाग्य-द्रव्य लाकर दिये। कन्या उन वस्त्राभूषणोंको पहनकर अपनी सहेलियोंके पास गयी। वे सब उसके इस शृंगारको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और बोलीं—'ये सब वस्तुएँ तुम्हारे पतिके यहाँसे आयी हैं न?' यह सुनकर वह कुछ लज्जित हो गयी। उन सहेलियोंमें एक दुष्ट लड़की थी; उसने उसकी एक चूड़ी खराब कर दी। कन्याने दुःखित होकर पिताके पास आकर कहा—'अमुक सहेलीने मेरी एक चूड़ी खराब कर दी।' पिताने कन्याको आश्वासन दिया और चूड़ीको ठीक करवा दिया तथा उस सहेलीके अभिभावकको उलाहना दिया। फिर सम्बन्ध करानेवाले ब्राह्मणको भी सारी बातें बताकर विवाह शीघ्र करवानेके लिये अनुरोध किया।

ब्राह्मणदेवताने वरके पास जाकर कहा—'लड़की बहुत सुपात्र है। किसीने एक चूड़ी खराब कर दी, तब उसने उसको अपशकुन मानकर पिताके पास दुःख प्रकट किया। पिताने चूड़ी ठीक करवा दी। आपके भेजे हुए वस्त्राभूषणोंकी वह अच्छी तरह आदरपूर्वक सार-सँभाल रखती है। उसके पिताने शीघ्र विवाहके लिये अनुरोध किया है।' यह सुनकर वरने शीघ्र ही विवाह करना स्वीकार कर लिया। कुछ ही दिनों बाद वरने तिथि निश्चित कर दी और बारात लेकर कन्याको व्याहनेके लिये कन्याके पिताके यहाँ जा पहुँचा। विवाहके समय

कन्याने वरके गलेमें वरमाला पहनायी और विधिपूर्वक विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात् वर उस कन्याको अपने साथ स्थानपर ले गया। उनके यहाँ ऐसी प्रथा थी कि वधूको वापस नहीं भेजा जाता। किसीको मिलना होता तो वहीं आकर मिल लेते। उसके पति ही यदि कभी कोई विशेष आवश्यकता समझें तो उसे भले ही नैहर भेज दें, पर दूसरे किसीकी इच्छासे वह नहीं जा पाती। ऐसी आवश्यकताका अवसर जीवनभरमें किसीके लिये शायद ही कभी आता है।

उपर्युक्त कन्याके दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें इस प्रकार घटाना चाहिये। यहाँ अनन्य भक्तको ही कन्या समझना चाहिये। उसके १-निर्भयता, २-सात्त्विकी बुद्धि, ३-मन-इन्द्रियोंका निरोध, ४-क्रोधका अभाव, ५-ममता और अहंकारका अभाव, ६-स्वार्थत्याग, ७-किसीकी निन्दा न करना, ८-विषयोंमें निर्लेपता, ९-कोमलता, १०-व्यर्थ चेष्टाका अभाव, ११-तेजस्विता, १२-धैर्य, १३-निर्वैरता तथा १४-मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके त्यागमें निपुणता—ये १४ गुण ही चौदह वर्षकी आयु हैं। श्रद्धा-विश्वास ही सुन्दरता है। प्रेम ही तरुणावस्था है, जो नित्य बढ़ता रहता है। भगवत्-मार्गमें लगानेवाले परम हितैषी पुरुष ही पिता हैं। भगवत्प्राप्त पुरुष ही सम्बन्ध करानेवाले श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण हैं। भगवान् मातृ-पितृविहीन वर हैं। लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये लज्जा ही अधोवस्त्र (साड़ी) है। शास्त्रमर्यादाकी रक्षाके लिये लज्जा ही उत्तरीय वस्त्र (ओढ़ना) है। शीत-उष्णको सहन करनारूप तितिक्षा ही कब्जा है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे तीर्थस्थान, देवालय और महात्माओंके दर्शनके लिये पैरोंसे उनके पास जाना ही पैरोंके पायजेब आदि गहने हैं। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना ही करधनी है। पाँच यम ही दाहिने हाथकी पाँच चूड़ियाँ हैं। यमोंका

वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार किया गया है—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(२।३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं।'

१-**अहिंसा**—किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी कभी कष्ट न देना 'अहिंसा' है।

२-**सत्य**—जो बात जैसी सुनी, समझी और देखी गयी, उससे न अधिक कहना, न कम कहना एवं कपटरहित यथार्थ हितकर और प्रियवचन कहना 'सत्य' है।

३-**अस्तेय**—दूसरेके किसी भी पदार्थको चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे किसी भी प्रकार कभी अपने अधिकारमें न करना 'अस्तेय' है।

४-**ब्रह्मचर्य**—किसी भी बालक-बालिका और स्त्रीके दर्शन, स्पर्श, भाषण, वार्तालाप, श्रवण, एकान्तवास, चिन्तन, हँसी-मजाक और सहवासका सर्वथा त्याग करना अर्थात् मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकार भी किंचित् भी अश्लील चेष्टा न करना 'ब्रह्मचर्य' है। इसी प्रकार स्त्रीके लिये पुरुषके प्रति समझ लेना चाहिये।

५-**अपरिग्रह**—अपने ऐश-आराम और भोगके लिये किसी पदार्थका कभी संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है।

सब देश, सब काल, सब जाति और सब निमित्तोंमें सेवन किये हुए उपर्युक्त पाँचों यम 'महाव्रत' कहे जाते हैं। योगदर्शनमें बताया गया है—

जातिदेशकालसमयावच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।

(२।३१)

'उक्त यम जाति, देश, काल और निमित्तसे रहित सार्वभौम होनेपर

'महाव्रत' हो जाते हैं।'

इसी प्रकार पाँच नियम ही बायें हाथकी पाँच चूड़ियाँ हैं। नियमोंका वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार किया गया है—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(२।३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

१-शौच—बाहर-भीतरकी पवित्रताको 'शौच' कहते हैं। बाहरकी पवित्रता है शौचाचार-सदाचार। भीतरकी पवित्रता है दुर्गुण-दुराचारोंके संस्कारोंका अभाव।

२-संतोष—ईश्वरके मङ्गलमय विधानके अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया, भाव, पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्तिमें सदा सम और संतुष्ट—प्रसन्नचित्त रहना 'संतोष' है।

३-तप—मन और इन्द्रियोंका संयम करके त्यागपूर्वक व्रत, उपवास आदि धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है।

४-स्वाध्याय—भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारपरक श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है।

५-ईश्वर-प्रणिधान—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे ईश्वरके प्रणव आदि नामोंका जप और स्वरूपका चिन्तन करते हुए करुणाभावपूर्वक ईश्वरके शरणापन्न होना—'ईश्वर-प्रणिधान' है।

हाथोंसे सेवा, पूजा, यज्ञ, दान, परोपकार आदि सत्कार्य करना ही कड़े, कंगन, बँगड़ी, बाजूबंद आदि हाथोंके गहने हैं। भक्ति-ज्ञान-वैराग्यपरक गीता, रामायण, भागवत आदिको कण्ठाग्र करना ही

गलेका भूषण रत्नजटित 'कँठला' है। क्षमा, दया, शान्ति, समता, उदारता, ज्ञान-वैराग्य आदि हृदयके उत्तम भाव ही वक्षःस्थलके चन्द्रहार, कंठी, मोहनमाला, गलपटिया आदि गहने हैं। नासिकाके द्वारा भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें दिव्य गन्धका अनुभव करना ही नाककी नथ है। भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला आदिका श्रवण ही कानोंकी बालियाँ तथा अपनी निन्दा और अपवाद सुनकर संतुष्ट रहना ही कानके कर्णफूल हैं। विनय और प्रेमपूर्वक भगवद्भावसे सिरसे सबको नमस्कार करना मस्तककी चूडामणि है। भगवान्‌में दृढ़तापूर्वक अनन्यप्रेमभावसे एकनिष्ठा ही सौभाग्यचिह्नरूप सिन्दूर है।

सत्संगी मित्र साधकोंका सङ्ग ही सहेलियोंका सङ्ग है। उत्तम गुण और उत्तम आचरणरूप वस्त्राभूषणोंको देखकर जो मित्रोंके द्वारा प्रशंसा की जाती है, उसे सुनकर साधककां लज्जित होना ही कन्याका लज्जित होना है, यही उस कन्याकी महत्ता है। यम-नियमके पालनमें बाधा पहुँचानेवालेको ही चूड़ी खराब करनेवाली दुष्ट सहेली समझना चाहिये। शौच-स्नान, नित्यकर्म आदि साधनमें विघ्न डालना ही चूड़ीको खराब करना है। परम हितैषी पुरुषके द्वारा शौच-स्नान, नित्यकर्मका सुचारूपसे प्रबन्ध किया जाना ही पिताके द्वारा चूड़ीको ठीक करवाया जाना है। साधकको भगवान्‌से मिलनेके लिये उत्कण्ठित और पात्र देखकर जो परम हितैषी पुरुषके द्वारा भगवत्प्राप्त पुरुषसे भगवद्दर्शनके लिये अनुरोध कराना है, यही कन्याको विवाहके लिये उत्सुक, सयानी और योग्य देखकर पिताके द्वारा ब्राह्मणसे शीघ्र विवाहके लिये अनुरोध करवाना है। साधकके उत्तम गुण, स्वभाव और चरित्रोंका भगवान्‌के प्रति वर्णन करना वरके प्रति कन्याके गुण-स्वभाव-चरित्रका वर्णन करना है। भगवान्‌का उस साधकको दर्शन देनेका निश्चय करना ही वरका कन्याके

साथ विवाह स्वीकार करना है; क्योंकि भगवान् किसीके पुरुषार्थसे नहीं मिलते। वे तो उसीको मिलते हैं जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। कठोपनिषद्में बतलाया गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(१।२।२३)

'ये परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकते हैं, बल्कि जिसको ये परमात्मा स्वीकार कर लेते हैं, उसके द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं; क्योंकि ये परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देते हैं।'

भगवान्का प्रकट होकर दर्शन देना ही कन्याके घरपर वरका पधारना है और भगवान्का दर्शन करके उनको पुष्पमाला पहनाना ही कन्याके द्वारा वरमाला पहनाना है। भगवत्-प्राप्ति ही विवाह है। साधकका भगवान्के परमधाममें जाना ही कन्याका पतिके स्थानमें जाना है। परमधाममें जाकर पुनः इस संसारमें लौटकर न आना ही स्त्रीका नैहर वापस न आना है। विशेष आवश्यकता पड़नेपर भगवान्के द्वारा आज्ञा और अधिकार पाकर उस महात्माका लोगोंका उद्धार करनेके लिये संसारमें आना ही स्त्रीका भगवदिच्छासे नैहरमें आना है।

अनन्य भक्तिका साधन किस प्रकार किया जाय—इसे समझानेके लिये ही यह कन्याका दृष्टान्त बताया गया है। इसे साधक पुरुषको अपनेमें घटाना चाहिये। अनन्य भक्तिके साधकको भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके रसमें सदा-सर्वदा मग्न रहना चाहिये। भगवान्के नामका जप

और उनके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे तत्परता और उत्साहके साथ निरन्तर करते रहना चाहिये। उसके प्रभावसे मनुष्यमें उपर्युक्त उत्तम गुण और उत्तम चरित्र सहजमें ही प्रकट हो सकते हैं। फिर तो ऐसे उत्तम गुण और उत्तम चरित्ररूप दैवी सम्पदावाले साधक महात्माके द्वारा अनन्यभावसे श्रद्धा, विनय और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन अनायास स्वाभाविक ही होता रहता है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(९।१३)

'अर्जुन! दैवी प्रकृतिके आश्रित उच्चकोटिके साधक महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतएव हमलोगोंको नित्य-निरन्तर उपर्युक्त साधनकी सम्पन्नताके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिले तो उत्तम साधकोंका सङ्ग करके अपना साधन बढ़ाना चाहिये। साधकोंका सङ्ग भी न मिले तो जिनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व-रहस्यका वर्णन हो, उन गीता आदि ग्रन्थोंका अर्थ और भाव समझते हुए श्रद्धा, प्रेम और वैराग्यपूर्वक अनुशीलन करना चाहिये।

* * * * *

निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा

भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण किसी भी स्वरूपके निरन्तर स्मरणके समान कोई भी साधन नहीं है। यह साधन बहुत ही सुगम है। इस साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। यदि इस मनुष्य-जन्ममें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो बड़ी भारी हानि है, महान् भयकी बात है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-जीवनमें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब बड़ी भारी हानि है।'

क्योंकि मनुष्य भगवान्‌के सिवा किसी भी प्राणी या पदार्थका चिन्तन करता हुआ मरता है तो उसकी दुर्गति होती है। मरनेके समय जिस मनुष्य, पितर, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिका चिन्तन करता हुआ मरता है वह उसीको प्राप्त होता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(८।६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

हमें यह पता नहीं कि हमारी मृत्यु कब होगी। यदि अचानक मृत्यु

हो गयी और मरणकालमें भगवान्‌की स्मृति नहीं रही तो बहुत ही खतरेकी बात है। इसलिये हमलोगोंको हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही सारे काम करने चाहिये । भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि हम हर समय भगवान्‌का स्मरण करते रहेंगे तो अवश्य ही भगवान्‌को प्राप्त हो जायँगे। अतएव एक क्षण भी भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये।

शरीर और इन्द्रियोंसे आप जो कुछ कर रहे हैं, वही करते रहिये, पर केवल मनसे भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी चिन्तन न कीजिये। यों तो मनुष्य स्वाभाविक ही दो काम बराबर करता रहता है, जैसे शौच-स्नान, खान-पान आदिकी क्रिया इन्द्रियोंसे होती रहती है और मन दूसरा ही व्यर्थ चिन्तन करता रहता है; किंतु हमारी प्रार्थना यह है कि आप जैसे शौच-स्नानादिकी क्रिया तथा जीविकाके लिये व्यापार आदिकी क्रिया—शरीर एवं वाणी आदि इन्द्रियोंसे करते आये हैं, चाहे वही करते रहिये; किंतु भगवान्‌को कभी मत भूलिये। सांसारिक कार्यमें कहीं कमी भी आ जाय या दोष भी आ जाय तो उसका सुधार भगवान्‌की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे हो सकता है; क्योंकि कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌की अनन्य भक्तिसे उसका सुधार होकर उद्धार हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता।'

इससे यह समझना चाहिये कि दोषोंका नाश तो भगवान्‌की अनन्य-भक्तिके प्रभावसे अनायास ही हो सकता है, किंतु अनन्यभक्तिमें कमी रह जायगी तो बड़ी भारी हानि है; क्योंकि उसकी पूर्ति अपने-आप सम्भव नहीं।

अतएव जिस कार्यके लिये हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है, उसी काममें इसको लगाना चाहिये। ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि, विचार और ज्ञान दिया है, उसको सार्थक करना चाहिये एवं इस मोहनिद्रासे सचेत होकर महापुरुषोंके पास जाना चाहिये तथा उनसे उस जाननेयोग्य परमात्माके तत्त्वको जानकर अपना कल्याण करना चाहिये। कठोपनिषद्‌में बताया गया है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(१ । ३ । १४)

'उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनसे जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको समझो।'

इसलिये मनुष्यशरीरके रहते-रहते ही परमात्माकी प्राप्तिरूप कार्यको सिद्ध करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! तू इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर दुर्लभ मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही स्मरण कर।'

यदि भगवान्‌के निरन्तर चिन्तनका प्रयत्न करते हुए देहपात भी हो जाय तो भी कल्याण ही है, किंतु भगवच्चिन्तनके बिना देहपात होनेके बाद पश्चात्ताप करनेसे कोई काम नहीं सिद्ध होता।

अतः शरीरके रहते-रहते ही अपने कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। नहीं तो, आग लगनेके बाद कुआँ खोदनेसे कोई कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

(वैराग्यशतक ८६)

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जबतक आयुका भी क्षय नहीं हुआ है, तभीतक समझदार मनुष्यको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा?

भोजराज कहते हैं—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति ॥

'मनोमोहिनी स्त्रियाँ हैं, मित्र भी अनुकूल हैं, बन्धुजन भी बड़े सुयोग्य हैं, सेवक भी प्रेमभरी बोली बोलनेवाले हैं, कितने ही हाथी चिग्घाड़ रहे हैं और तेज घोड़े हिनहिना रहे हैं; किंतु आँखोंके मुँद जानेपर उसके लिये कुछ भी नहीं रहता।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर-जुरे, मद-अंबु चुचाते ।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौनके गौनहु तें बढ़ि जाते ॥
भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते ।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी जो पै जानकीनाथके रंग न राते ॥

(कविता० उत्तर० ४४)

मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमादी और मूर्ख भी है। जैसे बालक विद्याका अभ्यास छोड़कर खेल-कूदमें चला जाता है; क्योंकि उसे खेल-कूदमें ही रस आता है; किंतु जब वह बड़ा होता है और उसमें समझ आ जाती है तब वह पश्चात्ताप करता है कि बालकपनमें मैंने खेल-कूदमें समय बिता दिया, विद्याका अभ्यास नहीं किया, यह मेरी बड़ी मूर्खता हुई। किंतु उस पश्चात्तापसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार जो मनुष्य निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन न करके विषयभोगमें, व्यर्थ कार्योंमें और पाप-कार्योंमें रस लेता है, उसको भी घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४३)

श्रीसुन्दरदासजी भी कहते हैं—

तू कछु और बिचारत है नर तेरो बिचार धर्‌यौ ही रहैगौ।
कोटि उपाय करै धनकै हित भाग लिख्यौ तितनो ही लहैगौ॥
भोर कि साँझ घरी पल माझ सु काल अचानक आइ गहैगौ।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत सुंदर यों पछिताइ कहैगौ॥

(सुन्दर-विलास अंग ३ पद ७)

हमलोग थोड़ा विचार करके देखेंगे तो हमलोगोंका मनसे भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावका चिन्तन करना तथा शास्त्र और सत्संगके द्वारा भक्ति-ज्ञान, वैराग्य-सदाचार आदि अध्यात्मविषयका पठन, श्रवण और मनन करना आदि सात्त्विक कार्यरूप परमार्थमें बहुत ही कम समय बीतता हुआ मिलेगा; किंतु हमारे समयका कुछ हिस्सा तो स्वाद-शौक, ऐश-आराम, भोग-विलास, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि राजस कार्यरूप स्वार्थमें बीतता हुआ मिलेगा एवं अधिकांश समय मूर्खताके कारण निद्रा, आलस्य, प्रमाद और पाप आदि तामस कर्मरूप अनर्थमें बीतता मिलेगा। इसलिये भगवान्‌ने जो हमको बुद्धि, विवेक और ज्ञान दिया है उसके द्वारा मनको समझाना चाहिये एवं उसे राजस-तामसरूप स्वार्थ और अनर्थके कार्योंसे हटाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर परमात्माके चिन्तनरूप परमार्थमें लगाना चाहिये। इस प्रकार मनको परमार्थमें लगाना ही उसका सदुपयोग है और इसके विपरीत लगाना ही उसका दुरुपयोग है। मनका स्वभाव बहुत ही गिरा हुआ है, उसका सुधार भगवान्‌का आश्रय लेकर अतिशय तत्परतासे प्रयत्न करनेपर ही भगवान्‌की कृपासे हो सकता है।

इस समय हमको सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। अध्यात्म-विषयकी उन्नतिके लिये यह भारतवर्ष उत्तम देश है तथा जिसमें अल्पकालके साधनसे ही शीघ्र कार्यकी सिद्धि हो जाती है—ऐसा यह उत्तम कलिकाल है। ऐसे उत्तम देश-कालमें भगवान्‌ने कृपा करके हमको मनुष्यशरीर दे दिया और भजन-ध्यान करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ दे दीं। इस समय अध्यात्मविषयक पुस्तकें भी कम मूल्यमें प्राप्त हो जाती हैं। उत्तम पुरुषोंका सङ्ग भी प्राप्त हो सकता है। धर्मके निष्कामभावपूर्वक थोड़े-से अनुष्ठानसे ही कल्याण हो सकता है। ये सब संयोग पाकर भी यदि हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो हमारे लिये बहुत ही लज्जा, दुःख और शोककी बात है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४४)

अतः हमलोगोंको विचार करना चाहिये और पतनकारक काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, दर्प, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आसक्ति और अज्ञानके वशमें होकर एक क्षण भी परम सुहृद् भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये। वैराग्ययुक्त भावसे त्रिलोकीके ऐश्वर्यको ठुकराकर केवल एक भगवान्‌का ही प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। हमारे लिये इसके समान और कोई भी परम उपयोगी कार्य नहीं है। तब हम दूसरे काममें एक क्षण भी अपने चित्तको क्यों लगायें? इसलिये चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते—हर समय भगवान्‌को याद रखनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये तथा जप-ध्यान, संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेके समय तो उनके अर्थ और भावको अच्छी तरह समझकर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे गुण और प्रभावयुक्त भगवान्‌के स्वरूपका मनसे निरन्तर

चिन्तन विशेषतासे होना ही चाहिये। रात्रिमें सोनेके समय भी विशेषतासे भगवान्‌को याद करते हुए ही सोना चाहिये। इससे हमारा रात्रिका शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो सकता है; क्योंकि मनुष्य १८ घंटे जिस कार्यका अभ्यास करता है, रात्रिमें ६ घंटे स्वप्न-सुषुप्तिके भी प्रायः वैसे ही बीतते हैं। अतः लाख काम छोड़कर यही काम करें कि भगवान्‌को कभी न भूलें। भगवान्‌की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि दोषोंका और सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश होकर भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है।

श्रीभागवतकार कहते हैं—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

(१२। १२। ५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि, भगवान्‌की भक्ति एवं विज्ञान-वैराग्यसे युक्त (भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ) ज्ञान प्राप्त हो जाता है।'

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्॥

(२। २। ३६)

'इसलिये परीक्षित्! सभी मनुष्योंको चाहिये कि वे सब समय, सब परिस्थितियोंमें सब प्रकारसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें।'

ईश्वर और महापुरुषोंका प्रभाव

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति और सामर्थ्यसे सम्पन्न, असम्भवको भी सम्भव कर सकनेवाले परमेश्वरका प्रभाव अपरिमित है। वस्तुतः ईश्वरके स्वरूप और प्रभावका वर्णन वाणीद्वारा नहीं किया जा सकता। जिस मनुष्यको ईश्वरका यथार्थ अनुभव हो जाता है वही उन्हें जानता है। वाणीसे तो वह भी नहीं कह सकता। इस सम्बन्धमें एक दृष्टान्त है। मान लीजिये, मर्त्यलोकका एक मनुष्य पृथ्वीके अंदर ऐसे नीचेके पाताललोकमें गया, जहाँ सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंका कभी दर्शन नहीं होता; इस कारण वहाँ घोर अन्धकार-ही-अन्धकार रहता है। वहाँ जानेपर जब कुछ समय बीत गया तो उसने वहाँके लोगोंसे पूछा—'क्या यहाँ दिन नहीं होता?' उन लोगोंने कहा—'दिन क्या?' उसने कहा—'सूर्यका उदय होनेसे जो महान् प्रकाश होता है, उसे दिन कहते हैं।' उन्होंने पूछा—'सूर्य क्या है?' उसने कहा—'जो आकाशमें प्रकाशका महान् पुञ्जरूप एक गोलाकार पिण्ड-सा उदित होता है वह सूर्य है।' तब वहाँके निवासियोंने बिजलीका हजारों पावरका एक बल्ब आकाशमें स्थित किया और उसे जलाकर पूछा—'सूर्य ऐसा ही होता है?' वह मनुष्य बोला—'यह सूर्यके मुकाबिलेमें कुछ नहीं है।' वहाँके निवासियोंने कहा—'इससे बढ़कर प्रकाश हो ही नहीं सकता।' वह बोला—'आप अपने एक व्यक्तिको मेरे साथ पृथ्वीपर भेजें तो मैं उसे प्रत्यक्ष दिखला सकता हूँ।' इसपर उन्होंने वहाँके एक व्यक्तिको उसके साथ भेज दिया। वह मनुष्य उस पाताललोकके व्यक्तिके साथ मनुष्य-लोकमें आया, उस समय अमावस्याकी अर्धरात्रिका घोर अन्धकार व्याप्त था, तब भी यहाँ उस लोककी अपेक्षा प्रकाश था। उसे देखकर उस

व्यक्तिने पूछा—'यही दिन है ?' उस मनुष्यने उत्तर दिया—'यह तो घोर रात्रि है।' तब जो आकाशमें तारे चमक रहे थे, उनके बारेमें उस पातालवासी व्यक्तिने पूछा—'यह क्या है ?' उस मनुष्यने कहा—'ये तारे हैं।' जब अरुणोदय होनेपर तारोंकी चमक क्षीण हो गयी और व्यापक प्रकाश-सा प्रतीत होने लगा, तब उसने पूछा—'यह दिन है ?' उस मनुष्यने उत्तर दिया—'नहीं, यह तो प्रभात है, अरुणोदय है। जब दो घड़ी बाद सूर्योदय होगा तब दिन माना जायगा।' उस व्यक्तिने पूछा—'आकाशमें जो तारे चमकते थे उनकी रोशनी कम कैसे पड़ गयी ?' मनुष्यने उत्तरमें कहा—'सूर्यका आभास यहाँ आनेसे तारोंकी ज्योति क्षीण हो गयी। जब सूर्योदय हो जायगा तब उनके तीव्र प्रकाशमें ये तारे आकाशमें ज्यों-के-त्यों रहते हुए भी नहीं दीखेंगे।' तत्पश्चात् जब सूर्योदय होनेका समय निकट आ गया तब शुक्र और बृहस्पतिके सिवा सारे तारे छिप गये एवं जब सूर्योदय हो गया तब तो शुक्र और बृहस्पति भी दीखने बंद हो गये। जो व्यक्ति नीचेके लोकसे आया था वह सूर्यको देख नहीं सका। तब जैसे अभ्रक (अबरक) पर दीपकके काजलकी कालिमा लगाकर सूर्यग्रहणके समय सूर्यको देखा जाता है, उसी प्रकार उसने देखा। सूर्य, दिन और रातको उसने अच्छी तरह समझ लिया। फिर वह मनुष्य उस व्यक्तिको लेकर उस लोकको गया। वहाँके निवासी लोगोंने उस व्यक्तिसे पूछा—'तुमने सूर्यका स्वरूप प्रत्यक्ष देखा ?' 'दिन और रातको प्रत्यक्ष देखा ?' वह व्यक्ति बोला—'हाँ' मैंने प्रत्यक्ष देखा है।' उन्होंने कहा—'अब तुम हमको अपनी भाषामें ठीक-ठीक समझा दो।' उसने उत्तर दिया—'यह मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है। मैं किसी प्रकार भी नहीं समझा सकता। आपलोगोंको समझना हो तो वहाँ जाकर समझिये; और दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

अब हमें इस दृष्टान्तपर विचार करना चाहिये। जब प्रत्यक्षमें देखनेवाला व्यक्ति भी, जिस देशमें सूर्य या दिन नहीं है, उस देशमें सूर्य या दिनको वाणीद्वारा नहीं समझा सकता, तब फिर परमात्माके स्वरूप और प्रभावको मनुष्य वाणीद्वारा कैसे समझा सकता है? परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही मनुष्य परमात्माके स्वरूप और प्रभावको यथार्थ समझ सकता है। किंतु वह भी फिर दूसरोंको समझा नहीं सकता। फिर भी जो शास्त्र और महात्मा पुरुषोंद्वारा यत्किञ्चित् समझाया जाता है वह उस परमात्माका आभासमात्र है। भगवान्‌ने गीतामें अपना प्रभाव जगह-जगह व्याख्या करके समझाया है, किंतु गीताके अर्थको समझकर भी भगवान्‌का स्वरूप और प्रभाव ठीक-ठीक समझमें नहीं आता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इससे यह समझना चाहिये कि संसारमें जो भी विभूति, कान्ति, बल और प्रभावसे युक्त पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भी भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका ही प्राकट्य हैं।

अतः भगवान्‌का प्रभाव अपरिमित, अपार, असीम और अनिर्वचनीय है। भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपका श्रद्धापूर्वक दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे पापी-से-पापी मनुष्यका भी शीघ्र कल्याण हो जाता है। हम भगवान्‌का स्मरण करें तो भी हमको परम लाभ है और भगवान् हमारा स्मरण करें तो भी हमको परम लाभ है। हम भगवान्‌को याद करें तो हमारा हृदय परम पवित्र होकर हमारा

उद्धार हो सकता है और भगवान् हमको याद करें तो हम उन गुणसागर भगवान्‌के हृदयमें प्रवेश करनेसे परम पवित्र होकर हमारा उद्धार हो सकता है। इसीलिये अङ्गदने हनुमान्‌जीसे यह कहा था कि आप समय-समयपर भगवान् श्रीरामको मेरी स्मृति कराते रहें—

कहेहु दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १९ क)

इसलिये हमलोगोंको हर समय भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌का यह नियम है कि जो भगवान्‌को याद करता है उसे भगवान् भी याद करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

इसी प्रकार भगवान् हमपर दृष्टिपात करें तो हम परम पवित्र हो जाते हैं और हम भगवान्‌का दर्शन करें तो हम परम पवित्र हो जाते हैं और हमारा उद्धार हो सकता है। यों सभी प्रकार हमारा परम लाभ है। फिर भगवान्‌के वार्तालाप और चरण-स्पर्शसे उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

किंतु बिना श्रद्धाके ऐसा नहीं होता; जैसे भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन पाकर भी दुर्योधनका उद्धार नहीं हुआ। बिना श्रद्धाके तो साक्षात् भगवान्‌के वचनरूप गीतोपदेशको पढ़-समझकर भी उद्धार नहीं हो सकता।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

'परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त

होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

परंतु जो भगवान्‌में श्रद्धा रखता है, भगवान्‌के दिव्य जन्म और कर्मके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है उसका उद्धार हो जाता है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान् अर्जुन-जैसे श्रद्धालु पात्रको ही अपने जन्म (अवतार)का रहस्य बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

किंतु राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिवाले मूढ़ मनुष्य श्रद्धारहित और अपात्र होनेके कारण भगवान्‌के तत्त्वको नहीं जानते, इसलिये वे भगवान्‌का तिरस्कार करते हैं (देखिये गीता ९। ११-१२)। वे अश्रद्धालु मनुष्य भगवान्‌के प्रभावसे अनभिज्ञ रहते हैं, अतः भगवान् उनके सामने प्रकट नहीं होते; अपने ऊपर योगमायाका पर्दा डाले रहते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(गीता ७ । २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ।'

अर्जुन भगवान्‌के श्रद्धालु और प्रेमी भक्त थे, इसलिये भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये और उनको उन्होंने परिचय दे दिया कि मैं ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हूँ (गीता ४ । ६) । तू मेरे शरण होकर मेरी ही भक्ति कर, इससे तू मुझको प्राप्त हो जायगा (गीता ९ । ३४) । अठारहवें अध्यायके अन्तिम उपदेशमें भी कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

(गीता १८ । ६४-६५)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन । तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा । अर्जुन ! मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर । ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ।'

भगवान्‌ने अपने स्वरूपका वर्णन भी जगह-जगह किया है । निर्गुण-निराकार स्वरूपका १२वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें, सगुण-निराकार स्वरूपका ८वें अ० के ९वेंमें तथा ९ वें अ० के

४,५,६,१८वेंमें और सगुण-साकार विश्व-स्वरूपका ११वें अ० के ५,६,७ वेंमें वर्णन किया है। अर्जुनने भगवान्‌से सगुण-साकार चतुर्भुज स्वरूपका दर्शन देनेके लिये प्रार्थना की (गीता ११।४६), तब भगवान्‌ने अपना चतुर्भुज स्वरूप अर्जुनको दिखला दिया— इसका ११वें अ० के ५०वें श्लोकमें वर्णन है। इसलिये सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इसके तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जानता है उसका निश्चय ही उद्धार हो जाता है।

इसी प्रकार, संसारके कल्याणके लिये भगवान् अपना अधिकार देकर जिस भक्तको भेजते हैं अथवा यहीं जो महापुरुष हैं, उनमेंसे किसीको अपना अधिकार दे देते हैं, उन पुरुषोंके भी श्रद्धापूर्वक दर्शन, चरण-स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे मनुष्य परम पवित्र हो जाता है जिससे उसका उद्धार हो सकता है; क्योंकि ईश्वर और ईश्वरका अधिकार पाये हुए पुरुषोंद्वारा जो कुछ देखा जाता है, स्पर्श किया जाता है, मनन किया जाता है, वह सब परम पवित्र हो जाता है। उन महापुरुषोंका प्रभाव बड़ा ही विलक्षण, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है। किंतु ऐसे महात्मा करोड़ों मनुष्योंमें ही कोई एक होते हैं। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

अतः प्रथम तो परमात्माकी प्राप्तिवाले पुरुष ही संसारमें बहुत कम हैं। उनमें भी अधिकार पाये हुए पुरुष तो और भी दुर्लभ हैं। उन महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होना बड़ा ही कठिन है; यदि सङ्ग प्राप्त हो

जाय तो उनको पहचानना बहुत मुश्किल है; क्योंकि उनको तो कोई आवश्यकता नहीं रहती जो कि वे अपनेको जनावें और साधारण मनुष्योंमें उनको पहचाननेकी योग्यता नहीं होती। यदि कहें कि गीतामें द्वितीय अ० के ५५ वेंसे ५८ वेंतक, ६ ठे अ० के ७वेंसे ९वेंतक, १२वें अ० के १३ वेंसे १९वेंतक और १४वें अ० के २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक—आदि-आदि श्लोकोंमें जो लक्षण बतलाये गये हैं उन लक्षणोंके अनुसार हम उनको पहचान सकते हैं तो यह कठिन है; क्योंकि ये सब लक्षण स्वसंवेद्य हैं, परसंवेद्य नहीं। यदि कहें कि तब फिर उनको कैसे पहचानें तो इसका उत्तर यह है कि जिसके दर्शन-भाषणसे अपनेमें महापुरुषोंके उपर्युक्त लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, वही हमारे लिये महात्मा है।

यदि महात्मा पुरुषोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा, वार्तालाप और नमस्कार किया जाय तो एक महात्मासे कई महात्मा बन सकते हैं, जैसे यदि दीपकोंमें तेल और बत्ती हो तो एक दीपकसे कई दीपक जलाये जा सकते हैं। यहाँ श्रद्धा-विश्वास ही तेल-बत्ती है। महापुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार चलना श्रद्धा है और उनके संकेतके अनुकूल चलना विशेष श्रद्धा है। उससे भी अधिक श्रद्धा वह है कि उनके सिद्धान्तको समझकर उनके मनके अनुकूल चलना अर्थात् उनकी इच्छाके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति चेष्टा करना। कोई बात उनसे पूछनेकी इच्छा हो तो उनको साष्टाङ्ग प्रणाम करके जिज्ञासुभावसे सरलता, श्रद्धा, विनय और प्रेमपूर्वक पूछ सकते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'उस परमात्माके यथार्थ ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर

समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

भगवान्‌ने यह जिज्ञासुके लिये कर्तव्य बताया है, किंतु महात्मासे इन सबको स्वीकार करनेके लिये नहीं कहा है। जिज्ञासुके द्वारा इस प्रकार करनेपर भी महात्मा स्वीकार नहीं करता; क्योंकि उसके शरीरमें कोई धर्मी है ही नहीं, तब कौन स्वीकार करे। किंतु इस प्रकार सेवादि करनेवाला कोई जिज्ञासु श्रद्धालु पात्र हो तो वह उसका विशेष विरोध भी नहीं करता। उपराम रहना तो उनका स्वभाव ही है; क्योंकि विवेक, वैराग्य, उपरति आदि गुण तो उनमें साधन-कालमें ही स्वभावसिद्ध हो गये थे।

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं वे व्यक्ति बनकर अपनेको नहीं पुजवाते; क्योंकि उनका देहमें किञ्चिन्मात्र भी ममता और अभिमान नहीं रहता। जो कोई अपनेको महात्मा समझता है, अपने पूजन, आदर, सत्कार, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे दूसरोंका उद्धार समझता है, वह महात्मा नहीं है; क्योंकि अपनेको श्रेष्ठ और दूसरोंको तुच्छ समझना, अपनेको महात्मा और दूसरोंको अज्ञानी समझना तो बहुत नीचे दर्जेकी बात है। महात्माके न तो देहमें अहंता-ममता ही रहती है और न देहमें कोई धर्मी ही रहता है, फिर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा-आदर आदिकी इच्छा कौन करे। जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा-आदर आदिकी इच्छा रखते हैं वे तो उच्च श्रेणीके साधक भी नहीं हैं, वरं वे तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठादिके किंकर हैं!

ऊपर यह बताया गया है कि ईश्वर अश्रद्धालु मनुष्योंके सम्मुख अपने ऊपर योगमायाका पर्दा डाले रहते हैं, इसी प्रकार इस रहस्यको जाननेवाले, भगवान्‌के सच्चे अनुयायी महात्मा पुरुष भी अपने ऊपर

मायाका पर्दा डाले हुए साधारण मनुष्यकी भाँति रहते हैं। किंतु जो वास्तवमें जिज्ञासु, श्रद्धालु और पात्र है, उसके सामने वे कहीं हावभावसे भगवत्प्राप्तिरूप अपनी स्थितिका निरभिमान-भावसे परिचय दे भी दें तो कोई दोष नहीं है। वे वस्तुतः महात्मा होकर भी लोकसंग्रहके उद्देश्यसे जिज्ञासु और साधककी भाँति साधारणतया विचरण करें तो इससे उनकी परमात्म-प्राप्तिरूप स्थिति नष्ट नहीं होती। किंतु साधारण मनुष्य महात्मा बनकर पूजा करावे तो उसके लिये भार है; क्योंकि महात्मा पुरुष, सकामभावसे शास्त्रविहित कर्म करनेवाले अज्ञानी पुरुषके कर्मोंका निष्काम और अनासक्त भावसे लोकसंग्रहके लिये अनुकरण करते हैं (देखिये गीता ३। २५)। यदि कहें कि सकामी अज्ञानी पुरुषके शास्त्रविहित कर्मोंका अनुकरण ज्ञानी पुरुष क्यों करते हैं तो इसका उत्तर यह है कि सकामी मनुष्य, यह सोचकर कि कहीं कर्मोंके विधि-विधानमें कमी रह जायगी तो हम फलसे वञ्चित रह जायँगे, फलकी इच्छाके लोभसे शास्त्रकी आज्ञाका पालन अच्छी प्रकार करते हैं; इसलिये उन कर्मोंमें विगुणता या कमी आनेकी गुंजाइश नहीं रहती। इसीलिये महापुरुष निष्काम, अनासक्त और अभिमानरहित हुए ही लोकसंग्रह यानी संसारके कल्याणके लिये उन सकामी अज्ञानी मनुष्योंके शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुकरण करते हैं।

ईश्वर और महापुरुषोंके स्वरूप और प्रभावका यथार्थ ज्ञान उनकी कृपासे ही होता है। अतः उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये श्रद्धाभक्तिपूर्वक निष्कामभावसे गीता ९। ३४ और ४। ३४ के अनुसार सब प्रकारसे उनके शरण हो जाना चाहिये।

परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७। ३)

'भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वैसा ही है।'

कुछ लोगोंका कथन है कि 'हमलोग बहुत वर्षोंसे सत्सङ्ग करते हैं और अपनी समझ तथा शक्तिके अनुसार साधन भी करते हैं; पर जैसी उन्नति होनी चाहिये, वैसी उन्नति नहीं दिखायी पड़ती, इसका क्या कारण है ? हमलोगोंकी उन्नति किस प्रकार हो ? इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही साधनमें रुकावट डालनेवाली है। इसलिये श्रद्धाके विषयमें गहराईसे विचार करके श्रद्धाको बढ़ाना चाहिये। श्रद्धाके योग्य चार हैं—१-ईश्वर, २-ज्ञानी-महात्मा, ३-गीतादि शास्त्र और ४-अपना आत्मा—इन चारोंमेंसे किसी एकपर भी पूर्णतया श्रद्धा-विश्वास हो जाय तो मनुष्यका सहज ही कल्याण हो सकता है।

गीतामें बतलाया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इससे यह समझना चाहिये कि श्रद्धाकी कसौटी है तत्परता और तत्परताकी कसौटी है मन-इन्द्रियोंका संयम; क्योंकि जितनी श्रद्धा होती है उतनी ही साधनके लिये तत्परता होती है और जितनी तत्परता होती है उतना ही मन-इन्द्रियोंका संयम होता है।

१-ईश्वरपर श्रद्धा-विश्वास

हमलोगोंको ईश्वरपर इस प्रकार दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि ईश्वर हैं, वे बहुतोंको मिले हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं भविष्यमें मिलते रहेंगे तथा ईश्वर सर्वव्यापी, सबके घट-घटकी जाननेवाले, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, परम दयालु, परम प्रेमी, सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे सम्पन्न, असम्भवको भी सम्भव करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, अज, अविनाशी, परम दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा हैं। उनकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यके सारे दुःख, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद और अज्ञानका विनाश होकर वह सदाके लिये संसारजालसे छूट जाता है और उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जिसको गीतामें परमात्माकी प्राप्ति (१३।३४), निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति (५।२४-२५), अमृतकी प्राप्ति (१३।१२), परम शान्तिकी प्राप्ति (४।३९), आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति (६।२८), अविनाशी परमपदकी प्राप्ति (१५।५), ब्रह्मकी प्राप्ति (१३।३०), परम गतिकी प्राप्ति (८।१३; १३।२८) आदि अनेक नामोंसे कहा गया है।

जब मनुष्यका उन सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परम दयालु परमात्मापर भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, तब

फिर उसके द्वारा जो भी कुछ होता है, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही होता है, भगवान्‌के विरुद्ध किञ्चिन्मात्र भी कभी नहीं होता। यदि किसीके द्वारा उनकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण होते हैं तो समझना चाहिये कि उसे ईश्वरके अस्तित्वपर भी विश्वास नहीं है; क्योंकि 'ईश्वर हैं या नहीं, वे हैं तो मिलते हैं या नहीं, मिलते हैं तो मुझको मिलेंगे या नहीं, मिलेंगे तो मेरा कल्याण होगा या नहीं तथा उनको जो सर्वहितैषी, न्यायकारी, सर्वज्ञ, कर्म-फलदाता, परम प्रेमी और परम दयालु बताया गया है, यह बात सही है या नहीं?'—इस प्रकारके संदेहोंसे युक्त मनुष्यके हृदयमें श्रद्धा-विश्वास नहीं होता। यही कारण है कि सत्संग और साधन करनेपर भी उन्नति होती हुई नहीं दिखायी पड़ती। इसलिये हमलोगोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ईश्वरमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये। इस विषयमें श्रुति, स्मृति और शास्त्र तो प्रमाण हैं ही, बलवती युक्ति भी प्रमाण है एवं साधन करनेसे तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी है, किंतु वह श्रद्धापर निर्भर करता है।

शुक्लयजुर्वेदमें बतलाया गया है—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(४०।१ का पूर्वार्ध)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त (पूर्ण) है।'

मनुस्मृतिमें कहा गया है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम्॥

(१२।१२२)

'जो सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन

करनेवाला एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा जाननेमें आता है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये।'

गीता कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५।१७)

'इन (क्षर-अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है।'

श्रीविष्णुपुराणमें बतलाया गया है—

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो
व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च
समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः॥

(६।५।८६)

'वे ईश्वर ही समष्टि और व्यष्टिरूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप हैं, वे ही सबके स्वामी, सबके साक्षी और सब कुछ जाननेवाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान्‌को परमेश्वर कहते हैं।'

योगदर्शनमें श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (१।२३)

'ईश्वर-प्रणिधानसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

इन पाँचों क्लेशों; पुण्य, पाप, पुण्य-पापमिश्रित और पुण्य-पाप-रहित— इन चारों कर्मों; विपाक यानी कर्मोंके फलों एवं आशय यानी कर्मोंके संस्कारोंसे जो सम्बन्धित नहीं है तथा जो समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह 'ईश्वर' है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (योग० १।२५)

'उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज (कारण) ज्ञान निरतिशय है यानी उसका ज्ञान सबसे बढ़कर है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योग० १।२६)

'वह ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है यानी वह कालसे सर्वथा अतीत है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १।२७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १।२८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना साधन है।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग० १।२९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका साक्षात् ज्ञान भी हो जाता है।'

अब युक्तिप्रमाण लीजिये। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे आदि जो बहुत-से महान् पदार्थ हैं, इन सबका जो उत्पादक (कारण), निर्माता, रक्षक और संचालक है, वही ईश्वर है, क्योंकि बिना किसी कारणके कोई कार्य नहीं होता। बिना निर्माता और संचालकके सूर्य-चन्द्र आदिका सुचारुरूपसे, युक्तियुक्त,

बुद्धिपूर्वक और यथायोग्य संचालन नहीं हो सकता। कोई छोटे-से-छोटा यन्त्र भी क्यों न हो, संचालकके बिना वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, तब फिर इतना महान् यह संसारयन्त्र संचालकके बिना कैसे कायम रह सकता है तथा जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेवाला कोई न हो तो कोई भी प्राणी अपने किये हुए अपराधका दण्ड स्वयं नहीं भोगना चाहता; जैसे बिना राजाके कोई भी अपराधीजन अपने किये हुए अपराधका दण्ड स्वयं ही ले ले ऐसा देखनेमें नहीं आता। कर्म (क्रिया) जड है, वह किसी चेतनको स्वयं दण्ड दे नहीं सकता और प्रकृति भी जड होनेके कारण बिना चेतनकी सहायताके किसीको उसके कर्मके अनुसार अनुग्रह या दण्ड-विधान नहीं कर सकती। ज्ञानपूर्वक यथायोग्य कर्मानुसार अनुग्रह या दण्डविधान कोई चेतन ही कर सकता है। भगवान् चेतनोंके भी चेतन, द्रष्टा, साक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं। यह युक्तिसंगत और शास्त्र-संगत है।

यदि कहें कि ईश्वर नहीं है तो यह कथन दुस्साहसमात्र है। ऐसा कहनेवालेसे पूछा जाय कि ईश्वर नहीं है, इसका क्या प्रमाण है ? यदि वह कहे कि 'ईश्वर नहीं है इसका प्रमाण नहीं है तो ईश्वर है इसका प्रमाण भी संतोषजनक नहीं है, इसलिये ईश्वर है या नहीं यह संदेहयुक्त बात है' तो इस संदेहपर हमें अपनी बुद्धिसे विवेकपूर्वक विचार करके लाभ उठाना चाहिये। मान लीजिये, ईश्वर नहीं है और कोई व्यक्ति ईश्वरको मान रहे हैं तो यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है तो उस परिस्थितिमें जो ईश्वरको नहीं मानता और जो मानता है, उन दोनोंके लिये ही ईश्वर नहीं है। इससे जो मानता है उसके क्या हानि हुई और जो नहीं मानता उसके क्या लाभ हुआ ? इस पक्षमें तो दोनोंके लिये समान ही है। ऐसा तो है ही नहीं कि जो नहीं मानता उसे तो कोई पुरस्कार मिल जायगा

या ईश्वर मिल जायँगे और जो मानता है उसे कोई दण्ड मिलेगा या ईश्वर नहीं मिलेंगे। जब ईश्वर है ही नहीं तो मिलेंगे क्या ? किंतु जो ईश्वरको मानता है यदि उसका पक्ष सत्य सिद्ध हो जाय तो उस हालतमें ईश्वरको माननेवाला ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार साधन करता है और उसे ईश्वरकी प्राप्तिरूप पुरस्कार मिल जाता है एवं वह सदाके लिये क्लेश, कर्म और दुःखोंसे मुक्त हो परम शान्ति तथा परमानन्दको प्राप्त हो जाता है। किंतु जो ईश्वरको नहीं मानता, वह इन सबसे वञ्चित रहता है और उस अपराधके कारण उसे नरकयातनारूप महान् क्लेश मिलता है। अतएव संदेहयुक्त होनेपर भी ईश्वरको मानना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है। अतः बुद्धिमान् विवेकशील मनुष्योंको ईश्वरको मानकर श्रद्धा, विश्वास और भक्तिपूर्वक उनकी शरण होना चाहिये। भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८। ६१-६२)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

(२) ज्ञानी महात्मा पुरुषपर श्रद्धा-विश्वास

हमें यह भी श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि ज्ञानी महात्मा पुरुष

भी बहुत-से हुए हैं, वर्तमानमें भी हैं और भविष्यमें भी होंगे। जो कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोगके द्वारा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, वे महान् पुरुष उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा समझे जाते हैं। जो कर्मयोगके द्वारा महापुरुष हुए हैं उनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

(२। ५५-५६)

'अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओं-को भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जो राग, भय और क्रोधसे रहित है, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।'

इसके आगे भी ५७वें, ५८वें तथा अन्य कई श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन है। एवं छठे अध्यायमें भी उनके लक्षण बतलाये गये हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६। ७-९)

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति सम और शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

जो भक्तिमार्गसे भगवान्‌को प्राप्त हुए, उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

आगे १५ वेंसे १९ वें श्लोकतक उनके लक्षणोंका और भी वर्णन है।

इसी प्रकार जो ज्ञानमार्गसे परमात्माको प्राप्त हुए, उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(गीता ५ । १८-१९)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं । जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है एवं जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

इसके पूर्व २२ वें, २३ वें श्लोकोंमें और अन्य अध्यायोंमें भी

इनके लक्षण बताये गये हैं।

ये लक्षण जिनमें हों, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके आचरणोंका हमलोगोंको अनुकरण करना चाहिये एवं श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करता है। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

इस प्रकार ज्ञानी महात्माओंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेपर या उनकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक चलनेपर अविवेकी अज्ञानी पुरुषका भी कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३।२५)

(ध्यानयोगी, सांख्ययोगी और कर्मयोगीके अतिरिक्त) अन्य जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे तो इस प्रकार न जानते हुए भी दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्संदेह तर जाते हैं।'

हाँ, यह बात अवश्य है कि ऐसा ज्ञानी महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ों मनुष्योंमें कोई एक ही होता है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे महापुरुष कम हैं, किंतु हैं अवश्य। महापुरुष संसारमें सदासे होते आये हैं और वर्तमानमें भी हैं; किंतु वे श्रद्धा-प्रेमसे ही मिलते हैं। भगवान् भी श्रद्धा-प्रेमके बिना नहीं मिलते। अतएव उपर्युक्त लक्षणोंवाले ज्ञानी महात्माओंकी श्रद्धापूर्वक खोज करनी चाहिये। यदि कहें कि उनकी पहचान हम कैसे करें तो इसके लिये यह बहुत बलवती युक्ति है कि जिनके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे महात्माओंके उपर्युक्त लक्षण हममें आने लगें, हमारे लिये वे ही महात्मा हैं। इसके सिवा और उपाय ही क्या है। यदि कोई महापुरुष कहें कि मैं महात्मा हूँ तो उनके इस कथनपर श्रद्धा होती नहीं, बल्कि पहलेसे उनपर कुछ श्रद्धा रहती है तो वह भी इस कथनके बाद कम हो जाती है और हम उनको लक्षणोंसे पहचान नहीं सकते; क्योंकि यह विषय स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं। महात्मा स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं। महात्माओंके भीतरके लक्षण ही प्रधान होते हैं। बाहरके लक्षण तो कोई दम्भी पुरुष दम्भसे भी दिखला सकता है। महात्मा समदर्शी होते हैं, हेतुरहित दयालु और प्रेमी होते हैं, उनका अपना किसीके साथ भी किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं रहता है। उनके सारे कर्म लोकसंग्रह यानी संसारके कल्याणके लिये होते हैं। ऐसा होनेपर भी साधारण मनुष्य उनको पहचान नहीं सकता। जो कुछ जान सकता है वह भक्ति और विश्वासपूर्वक परम श्रद्धासे ही जान सकता है। मनुष्य जब महात्माको जान ले तो फिर उसे उनके पास जाकर जिज्ञासापूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

जो साधक श्रद्धेय महात्मा पुरुषकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धाभक्ति-पूर्वक आचरण करता है वह श्रद्धालु कहा जाता है। उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धालु वह है जो महात्माके संकेतके अनुसार चलता है। उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धालु वह है जो महात्माके सिद्धान्तके अनुसार चलता है। एवं वह तो सर्वश्रेष्ठ श्रद्धालु है जो महात्माके मनोऽनुकूल चलता है। यदि कहें कि महात्माके मनके भावोंका कैसे पता लग सकता है तो इसका उत्तर यह है कि जो श्रद्धालु मनुष्य सदा महात्माकी आज्ञा, संकेत और सिद्धान्तके अनुसार चलता रहता है उसे उनके मनके भाव मालूम होते रहते हैं। ऐसे परम श्रद्धालु मनुष्यको महात्माके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर श्रद्धा होती है। प्रत्यक्षमें चूना, सीमेन्ट, ईंटका बना हुआ एक मकान दीख रहा है। उसको यदि महात्मा सोनेका मकान बतलाता है तो उस श्रद्धालुको वह मकान सचमुच सोनेका ही दीखने लगता है। यह है महात्मामें परम श्रद्धा! ऐसे परम श्रद्धालु मनुष्यके लिये महात्माके दर्शन, भाषण, चरणस्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन—सभी कल्याणकारक होते हैं।

जैसे एकलव्य भीलकी द्रोणाचार्यमें परम श्रद्धा थी, जिसके प्रभावसे वह बाणविद्यामें अर्जुनसे भी बढ़कर हो गया (देखिये महा० आदि० १३१)।

जैसे जबालाके पुत्र सत्यकामकी महर्षि हारिद्रुमत गौतममें परम श्रद्धा थी, जिसको गुरु-आज्ञापालनके प्रभावसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (देखिये छान्दोग्य-उप० ४।४—९)। जैसे उपकोसलकी सत्यकाममें परम श्रद्धा थी, जिसको गुरुसेवाके प्रभावसे अग्नियोंके उपदेशद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी (देखिये छान्दोग्य-उप० ४। १०—१४)। एवं जैसे राजा द्रुपद और उसकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें परम श्रद्धा थी, जिसके प्रभावसे उनके यहाँ कन्याके रूपमें पैदा हुई शिखण्डिनी 'शिखण्डी' नामक पुरुषके रूपमें बदल गयी (महा० उद्योग० १८८—१९२)। इसी प्रकार हमलोगोंको महात्मामें परम श्रद्धा करके लाभ उठाना चाहिये।

उपर्युक्त लक्षणोंवाले श्रद्धेय महापुरुषमें भी श्रद्धा होनी सहज नहीं है, किंतु भगवान्‌की या महापुरुषोंकी कृपासे ही उनमें श्रद्धा होती है। श्रद्धा हटनेमें तो कोई कठिनाई नहीं है। दोषदृष्टि करनेसे, दोषोंकी बात सुननेसे, नास्तिक अश्रद्धालुओंके संगसे श्रद्धा हटनी स्वाभाविक ही है। इसलिये किसी भी मनुष्यके दोषोंको न तो कहे, न सुने और न हृदयमें स्थान ही दे। पर-दोषदर्शन आदिमें लाभ तो है ही नहीं, बल्कि हानि-ही-हानि है। दोषोंके दर्शन, श्रवण, कथन, मननसे उनके संस्कार हृदयमें जम जाते हैं, जिससे वे दोष भविष्यमें उस व्यक्तिमें भी घट सकते हैं तथा जिसकी निन्दा की जाती है उसकी आत्माको दुःख पहुँचता है; इसलिये पर-दोष-चर्चासे पाप भी लगता है। दोषीके दोषकी चर्चा करनेसे उसके दोषका हिस्सा भी चर्चा करनेवालेको प्राप्त होता है। यह तो मनुष्यमात्रकी बात हुई। फिर ईश्वर और ज्ञानी महात्मा पुरुष तो स्वाभाविक ही निर्दोष हैं। निर्दोष व्यक्तिमें दोषकी कल्पना करनेसे और भी अधिक दोष लगता है, इसलिये परदोष-दर्शनसे तो कल्याणकामी

मनुष्यको सदा दूर ही रहना चाहिये।

(३) गीतादि शास्त्रोंपर श्रद्धा-विश्वास

हमलोगोंको गीतादि शास्त्रोंपर इस प्रकार श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि उनमें जो भी उपदेश हैं वे सत्य एवं कल्याणकारक हैं। ऐसा समझकर श्रुति एवं ऋषिप्रणीत स्मृति, इतिहास-पुराण तथा गीता आदि जितने भी शास्त्र हैं, उनमें बतलायी हुई भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, कर्मयोग, सदाचार आदिकी सार-सार बातोंको श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये। उदाहरणके लिये श्रीमद्भगवद्गीताको ही ले लीजिये। गीता सर्वशास्त्रमयी है। महाभारतमें बतलाया गया है—

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(भीष्म० ४३। २)

'गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु सर्ववेदमय हैं।'

गीता सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है एवं सारे उपनिषदोंका भी सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

(गीतामाहात्म्य)

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौएँ हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले हैं, अर्जुन ही बछड़े हैं, श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न मनुष्य ही दुग्धपान करनेवाले हैं और गीतारूप महान् अमृत ही दुग्ध है।'

गीताकी बड़ी भारी महिमा है। जो गीताके अर्थ और भावको समझकर स्वाध्याय करता है उसके द्वारा भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं—यह स्वयं भगवान् ही कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

(गीता १८ । ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है । गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त होता है किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो दूसरोंको भी मुक्त कर देता है । जो मनुष्य गीताका नित्य पाठ करता है उससे वह श्रेष्ठ है जो उसके अर्थ और भावको समझकर पाठ करता है; किंतु वह तो सर्वश्रेष्ठ है जो उसके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाता है । अतः गीताको अपने जीवनमें लानेके लिये इसका अच्छी प्रकार अभ्यास करना चाहिये । श्रीवेदव्यासजी कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥

(महा० भीष्म० ४३ । १)

'अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है, केवल गीताका ही भली प्रकारसे अर्थ और भाव समझते हुए गान करना चाहिये; क्योंकि यह भगवान् विष्णुके साक्षात् मुखकमलसे प्रकट हुई है ।'

गीताका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेनेपर आत्मोद्धारके लिये अन्य शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं रहती । यह कथन शास्त्रोंकी अवहेलनाके लिये नहीं है । यह तो गीताकी विशेषता दिखलानेके लिये ही कहा गया है ।

गीतामाहात्म्यमें बताया गया है—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥

'जो मनुष्य मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक इस पुण्यमय गीताशास्त्रका पठन करता है वह भय, शोक आदिसे रहित हो श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

गीतामें भी भगवान्‌ने स्वयं इसे शास्त्र कहा है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥

(१५।२०)

'निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।'

इस गीताका जो संसारमें प्रचार करता है, उसकी तो भगवान्‌ने और भी विशेष महिमा बतलायी है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(गीता १८।६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८।६९)

'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

गीतामें भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग और सदाचारकी बातें भरी हुई हैं। अतः जो श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक इसका श्रवण, मनन और अध्ययन करके उसके अनुसार आचरण करता है उसके कल्याणमें कोई शङ्का नहीं है, किन्तु जो शास्त्रकी मर्यादाको छोड़कर मनमाना आचरण करता है उसके किये हुए अच्छे कर्म निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही।'

शास्त्रकी मर्यादाके बिना भी स्वाभाविक श्रद्धा भी होती है। श्रद्धाके विषयमें अर्जुनने गीताके सत्रहवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें प्रश्न किया है कि शास्त्रमर्यादाके बिना मनुष्य जो यज्ञ, पूजा आदि करता है, उसका वह कर्म सात्त्विक है या राजस अथवा तामस। अर्जुनके इस प्रश्नपर ये चार प्रश्न उठते हैं—(१) जिसमें शास्त्रमर्यादा भी नहीं है और श्रद्धा भी नहीं है, वह कर्म कैसा है? (२) जिसमें शास्त्रमर्यादा और श्रद्धा दोनों हैं, वह कर्म कैसा है? (३) जिसमें शास्त्रमर्यादा तो है किंतु श्रद्धा नहीं है, वह कर्म कैसा है? (४) जिसमें श्रद्धा तो है किंतु शास्त्रमर्यादा नहीं है वह कर्म कैसा है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यही बतलाया है कि (१) जिसमें शास्त्रमर्यादा और श्रद्धा—दोनों ही नहीं हैं वह कर्म तामसी है (देखिये १७। १३)। (२) जिसमें ये दोनों हैं वह कर्म सात्त्विक भी होता है और राजस भी। शास्त्रविधिके अनुसार

श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे किया हुआ कर्म सात्त्विक है (देखिये गीता १७। ११) और शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक सकामभावसे किया हुआ कर्म राजस है (देखिये १७। १२)। (३) जिसमें शास्त्र-मर्यादा तो है किंतु श्रद्धा नहीं है वह कर्म असत् है (देखिये १७। २८)। (४) जिसमें श्रद्धा तो है किंतु शास्त्रमर्यादा नहीं है वह कर्म सात्त्विक, राजस, तामस—तीनों प्रकारका होता है (देखिये १७। २)।

अतः हमलोगोंको गीतादि शास्त्रोंके अनुसार श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

(४) अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास

प्रथम यह विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य जो कुछ बुरा या भला अथवा बुरा-भला मिला हुआ कर्म करता है उसका फल उसको इस जन्ममें और भावी जन्ममें अवश्य मिलता है। किंतु जो निष्कामभावसे कर्म किया जाता है उसका फल कहीं नहीं मिलता। भगवान् कहते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

(गीता १८। १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

इससे यह सिद्ध होता है कि मरनेके बाद भी परलोक है, जो ऐसा समझता है उसके द्वारा कभी पापकर्म नहीं हो सकता; क्योंकि वह

जानता है कि शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

(ब्रह्मवै० पु० श्रीकृष्णजन्म० ८५ । ३६)

'अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल मनुष्यको अवश्य भोगना पड़ता है। फलभोग किये बिना सौ करोड़ कल्पोंमें भी कर्मका क्षय नहीं होता है।' यदि कहें कि जप-तप आदिके रूपमें प्रायश्चित्त करनेपर पापकर्मोंका फल नहीं भोगना पड़ता; सो ठीक है—यह प्रायश्चित्त भी तो एक प्रकारका कर्मफल-भोग ही है।

मरनेके बाद आत्मा अवश्य है—इसमें श्रद्धा-विश्वास करना यह अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास करना है। मरनेके बाद आत्मा निश्चय है ही। भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

(गीता २ । १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

(गीता २ । १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(गीता २ । २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ।' वेदोंमें भी बतलाया गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(शुक्लयजुर्वेद अ० ४० म० ३)

'जो कोई भी मनुष्य आत्माका हनन करनेवाले होते हैं, वे मरकर नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन भयंकर लोकों (नरकों) को बारम्बार प्राप्त होते हैं जो अज्ञान दुःखक्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं ।'

परलोक युक्तिसे भी सिद्ध है । जब बच्चा जन्मता है तब वह जन्मते ही रोता है; क्योंकि जन्मके समय उसको महान् कष्टका अनुभव होता है—यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है । कभी-कभी बच्चा हँसता भी है इससे अनुमान होता है कि उसे सुखका अनुभव होता है; क्योंकि जब-जब उसे पूर्वजन्ममें दुःख हुआ है तब-तब वह रोया है और जब-जब सुख हुआ है तब-तब हँसा है । इस जन्ममें तो उसको रोने या हँसनेकी कोई शिक्षा मिली नहीं और न माताके उदरमें ही मिली । अतः इसमें उसका पूर्वजन्मका रोने या हँसनेका अभ्यास ही हेतु है । इससे भी पूर्वजन्म सिद्ध

होता है और पूर्वजन्मके साथ ही यह वर्तमान जन्म उसके लिये भावीजन्म सिद्ध हो गया तथा जब माँ बच्चेके मुँहमें स्तन देती है तो स्तन मुखमें देनेमात्रसे तो दूध उसके पेटमें नहीं जाता, बच्चा स्वयं दूधको खींचता है तभी दूध पेटमें जाता है। दूध खींचनेकी इस प्रक्रियामें वह पूर्वजन्मसे ही अभ्यस्त है। बच्चा सोता भी है तथा कभी-कभी मृत्युके भयसे भीत हो काँपता भी है; क्योंकि वह पूर्वमें बहुत बार मर चुका है। ये सब बातें उसने इस जन्ममें तो कहीं सीखी नहीं। अतः इन सब संस्कारोंसे भी उसका पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है।

संसारमें कोई पशु-पक्षी और कोई मनुष्य, कोई सुखी और कोई दुःखी, कोई गरीब और कोई धनी, कोई रोगी और कोई नीरोग होता है। ये सब उसे जन्मसे ही प्राप्त हैं तो इस जन्ममें तो छोटे बच्चेने कोई कर्म किया ही नहीं, जिसका यह फल हो। अतः इसके पूर्वजन्मोंके कर्मोंके अनुसार ही यह सब होता है—ऐसा मानना होगा; क्योंकि इस प्रकारकी विषमताका अन्य कोई कारण नहीं दिखायी देता। इन सब युक्तियोंसे भी पूर्वजन्म और भावीजन्म सिद्ध हो जाता है।

अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको दुर्गुण-दुराचार और दुर्व्यसनोंका त्याग करके भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण, सदाचारका श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे मनुष्यका इसी जन्ममें कल्याण हो सकता है। यदि कुछ कमी रह गयी और पहले ही मृत्यु हो गयी तो भावीजन्ममें निश्चय ही कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

(६।४३)

'वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धिसंयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और कुरुनन्दन अर्जुन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है।'

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(गीता ६।४४)

'वह योगभ्रष्ट श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेके कारण विषयोंके पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है। अर्थात् संसार-सागरसे तर जाता है।'

यदि कहें कि शास्त्र और युक्तिको हम नहीं मानते। परलोक है या नहीं—यह मालूम नहीं तो इस प्रकारका संदेह होनेपर भी परलोकको माननेमें ही बुद्धिमानी और लाभ है; क्योंकि जिस प्रकार ऊपर युक्तिसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वरको माननेवाला ही लाभमें रहता है, न माननेवालेको हानि-ही-हानि है, वैसे ही परलोकको माननेवाला ही लाभमें रहता है, न माननेवालेको हानि-ही-हानि है।

यदि ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और युक्तिपर भी विश्वास न हो तो मनुष्यको कम-से-कम अपनी आत्मापर तो अवश्य ही विश्वास करना चाहिये। यह भी आत्मापर विश्वास करना है कि अपने अन्तःकरणमें मनुष्य जिस बातको अच्छी समझे उसको तो काममें लावे और जिसको बुरी समझे उसका सर्वथा त्याग करे। यह तो प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि जो कोई आपपर अत्याचार करता या आपके साथ बुरा व्यवहार

करता है तो वह आपके दिलमें अखरता है, ऐसा व्यवहार करनेवाला आपकी दृष्टिमें बहुत ही नीचे दर्जेका आदमी है। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप किसीके साथ कभी ऐसा बुरा व्यवहार न करें। एक दूसरा आदमी आपके साथ अच्छा व्यवहार करता है, सेवा करता है, सुख पहुँचाता है, आपके मनके अनुकूल कार्य करता है या आपका परम हितैषी है तो आपकी दृष्टिमें वह बहुत भला आदमी है—यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप भी सबके साथ ऐसा ही सद्व्यवहार करें। इसके सिवा आपके सामने अन्य कोई भी कार्य आकर प्राप्त हो उसके विषयमें आप अपनी आत्मामें विचार करते रहें और जिसको आपकी आत्मा बुरा स्वीकार करे उसका आप सर्वथा त्याग कर दें एवं जिसको अच्छा समझे उसका आप प्रयत्नपूर्वक सेवन करें।

उदाहरणके लिये एक ओर ब्रह्मचर्य-पालन है; दूसरी ओर व्यभिचार। इन दोनोंके विषयमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि ब्रह्मचर्य-पालन बहुत उत्तम है, व्यभिचार बहुत ही नीच कर्म है। अतः ब्रह्मचर्यपालन करे, व्यभिचार कभी न करे। इसी प्रकार एक ओर दूसरेको सुख पहुँचाना, परोपकार, सेवा और हित करना है, दूसरी ओर दूसरेका अनिष्ट करना, उसे हर प्रकारसे दुःख पहुँचाना, अहित करना है। इस विषयमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि दूसरोंको सुख पहुँचाना, परोपकार, सेवा और हित करना ही श्रेष्ठ है और दूसरेका अनिष्ट करना, दुःख पहुँचाना, अहित करना अत्यन्त बुरा है। अतः परोपकार, सेवा, हित आदि करे, दूसरोंको सुख पहुँचावे, दूसरोंका अनिष्ट न करे, किसी भी प्राणीको कभी किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचावे, अहित न करे। इसी तरह एक ओर सत्य, प्रिय,

हितकर वचन है, दूसरी ओर असत्य, कठोर, अहितकर वचन है। इन दोनोंके सम्बन्धमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि सत्य, प्रिय, हितकर वचन ही उत्तम है, असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन अत्यन्त बुरा है। अतः हमको सदा सत्य, प्रिय, हितकर वचन ही बोलना चाहिये, असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन कभी नहीं बोलना चाहिये; इसी प्रकार अन्य सभीके विषयमें अपनी पवित्र और पक्षपातरहित बुद्धिसे विचार करके अपनी आत्मामें जो भाव या क्रिया अच्छी निर्णय हो उसे कटिबद्ध होकर तत्परतासे काममें लाना चाहिये तथा जो भाव या क्रिया अपनी आत्मामें बुरी निर्णय हो उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। उपर्युक्त प्रकारसे विवेचन करके जो संसारमें स्वार्थ, आसक्ति और अभिमानसे रहित हो आचरण करता है, उस अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास करनेवाले मनुष्यका भी कल्याण हो जाता है।

ऊपर बतलाये हुए ईश्वर, ज्ञानी महात्मा, गीतादि शास्त्र और अपनी आत्मा—इन चारोंमेंसे किसी एकपर भी श्रद्धा-विश्वास होनेसे कल्याण हो सकता है; तब फिर चारोंपर श्रद्धा-विश्वास होनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। गुणबुद्धिसे श्रद्धा बढ़ती है और अवगुणबुद्धिसे श्रद्धा घटती है, इसलिये कल्याणकामी पुरुषको सबमें गुणबुद्धि करनी चाहिये, अवगुण-बुद्धि किसीमें भी नहीं करनी चाहिये।

तज पर अवगुन नीरको छीर गुननिसौं प्रीति।
हंस संतकी सर्वदा 'नारायण' यह रीति॥

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति

एकमात्र भगवान्‌के ही सब प्रकारसे शरण हो जाना—यह सभी मनुष्योंके लिये परमात्माकी प्राप्तिका बहुत ही सुगम उपाय है। किंतु जो मनुष्य ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग आदि साधनोंको करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिये तो एकमात्र भगवान्‌की ही शरण ग्रहण कर लेना सब प्रकारसे लाभदायक है; क्योंकि भगवान् परम प्रेमी, परम सुहृद् और बिना ही कारण दया करनेवाले हैं। वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करते। श्रीभरतजी कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा० उत्तर० प्रारम्भकी चौ०)

अतः जो मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है उसे भगवान् सबसे अभय कर देते हैं। स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकीय० युद्ध० १८। ३३)

'जो मनुष्य 'मैं आपका हूँ' इस भावसे भावित होकर केवल एक बार अपनेको सब ओरसे मेरे अर्पण कर देता है—भलीभाँति मुझे सौंप देता है, उस सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवाले भक्तको अपनाकर मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे सदाके लिये निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा 'प्रण' है।'

चाहे कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, उसका भी भगवान् त्याग नहीं करते। रामचरितमानसमें भगवान्‌के वाक्य हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

(सुन्दर० ४४। १)

इसलिये जो सब साधनोंसे हीन है उस मनुष्यके कल्याणके लिये तो भगवान्‌की शरणमें जाना ही सुगम और सरल उपाय है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९। ३२)

'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डाल आदि जो कोई भी हों वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

चाहे वह नीची-से-नीची जातिका क्यों न हो, भगवान्‌की शरण (भक्ति) से परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २१)

'उद्धव! मैं संतोंका परम प्रिय 'आत्मा' हूँ। मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

इसी प्रकार जो शुभ आचरणसे भी हीन है, वह भी शीघ्र ही धर्मात्मा होकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर

मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(गीता ९ । ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता।'

फिर जिनकी उत्तम जाति और उत्तम आचरण हो उनका उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसलिये मनुष्यको उन हेतुरहित प्रेम करनेवाले और परम दयालु एकमात्र भगवान्‌के ही सब प्रकारसे शरण होना चाहिये। सब प्रकारसे शरण होनेका स्वरूप गीतामें यों मिलता है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(९ । ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने शरणके चार प्रकार बतलाये हैं। इनको समझना चाहिये। हमारे पास ये चार ही प्रधान साधन हैं—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर। **'मन्मना भव'** से मनको भगवान्‌में लगानेके लिये कहा गया है, जैसे व्रजकी गोपियाँ निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करती

रहती थीं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१०।४४।१५)

'जिनका चित्त निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ है, जिनकी बुद्धि भगवान्‌में ही अनुरक्त है, जिनका कण्ठ प्रेमाश्रुओंके कारण गद्गद हो रहा है और जो दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—सारे काम करते समय भगवान्‌के ही गुणोंका गान करती रहती हैं, वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं।'

इस प्रकार मनको भगवान्‌में लगा देना मनसे भगवान्‌के शरण होना है।

'**मद्भक्तो भव**' से प्रधानरूपसे बुद्धिको भगवान्‌में लगानेके लिये कहा गया है। भगवान् ही मेरे परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी और हितैषी हैं, उनके समान और कोई नहीं है। शरण लेनेयोग्य, आत्मीयताके योग्य, प्रेम करनेयोग्य एक भगवान् ही हैं, यों बुद्धिसे भगवान्‌के गुण-प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझकर एकमात्र भगवान्‌में ही अपनता करना एवं भगवान्‌में ही अनन्य और विशुद्ध प्रेम करना चाहिये, जैसे भक्तशिरोमणि प्रह्लादका भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम था। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना ही असली भक्ति है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें बतलाया गया है—'**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' (सूत्र २)—'ईश्वरमें परम अनुराग (प्रेम) होना ही भक्ति है।'

इस प्रकार बुद्धिको भगवान्‌में लगा देना बुद्धिसे भगवान्‌के शरण होना है।

'मद्याजी भव' से भगवान्‌ने यह भाव दर्शाया है कि सम्पूर्ण यज्ञ, तप आदि कर्मोंका मैं ही भोक्ता हूँ—**'भोक्तारं यज्ञतपसाम्'** (गीता ५।२९), मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ—**'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** (गीता १०।२०) और मैं ही सबमें व्यापक हूँ—**'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९।४)—ऐसा समझकर मेरी पूजा करनी चाहिये। आगे भगवान्‌ने पूजाका प्रकार स्वयं बतला दिया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

यहाँ पूजासे तात्पर्य है सब प्राणियोंमें भगवान्‌को समझकर भगवद्भावसे विनय और प्रेमपूर्वक सबके हितके लिये अपनी इन्द्रियोंसे सबको आदर-सत्कार-मान देते हुए स्वयं अभिमान और स्वार्थभावसे रहित हो सेवाद्वारा सबको सुख पहुँचाना। यही भगवान्‌की व्यापक पूजा है। इसमें प्रधानरूपसे सारी इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगाना है। इसलिये यहाँ **'मद्याजी भव'** का अभिप्राय इन्द्रियोंसे भगवान्‌के शरण होना है।

'मां नमस्कुरु' से अपने शरीरको भगवान्‌के अर्पण करना बतलाया गया है। भाव यह कि एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाय। अपने मनके अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी भगवान् करें यानी

अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थिति प्राप्त हो, उसको भगवान्‌का विधान (आज्ञा) या पुरस्कार समझकर प्रसन्न हो एवं भगवान्‌के उस विधानमें पद-पदपर दयाका दर्शन करता रहे। अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शास्त्र और सिद्धान्तके अनुकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिमें भगवान्‌की दयाका दर्शन होकर शान्ति मिलना तो स्वाभाविक है ही, पर जिसे प्रतिकूलतामें भी भगवान्‌की दयाका दर्शन होता रहता है, वही भगवान्‌की दयाके तत्त्व-रहस्यको यथार्थ रूपसे समझता है। अनुकूलतामें जो प्रसन्नता—शान्ति रहती है वह तो सभीको रहती है, किंतु वह राजसी है। प्रतिकूलताको भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक समझकर जो शान्ति रहती है, वही सात्त्विक शान्ति है। मनके प्रतिकूल बीमारी प्राप्त होनेपर या स्त्री, पुत्र, धन आदिका विनाश होनेपर यह भाव होना चाहिये कि यह घटना देखनेमें तो दुःखदायी है; किन्तु भगवान्‌ने यह मेरे हितके लिये ही किया है। इससे कई लाभ हैं। दुःख भोगनेसे पापोंका नाश होता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होता है। विपत्तिके समय मनुष्यको भगवान्‌की स्मृति होती है। यह दुःख पापका फल है—ऐसा समझनेसे पुनः पापकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। दुःख सहनेसे तितिक्षा बढ़ती है। इस प्रकार समझनेपर जो शान्ति मिलती है वह भी सात्त्विक शान्ति ही है। किंतु जो परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्ति है अथवा तीनों गुणोंसे अतीत जो परम शान्ति है, वह इनसे भी विलक्षण है। जो इस तत्त्वको समझकर साधन करता है, वह किसी भी प्रकारकी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिके प्राप्त होनेपर उसे भगवान्‌का विधान यानी भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहता है और शान्तिमें ही सदा-सर्वदा मग्न रहता है; वह परम शान्ति है। फिर उस मनुष्यका अनुकूलता-प्रतिकूलता, दोनोंमें समभाव रहता है और

उसके चिन्ता-भय, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकारोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसे पद-पदपर प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दका सर्वत्र अनुभव होता रहता है।

वह भगवान्‌का भक्त अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरको सम्पूर्ण-रूपसे भगवान्‌के अर्पण कर चुका है, इसलिये उसके इस शरीरके द्वारा भी जो भी कुछ क्रिया होती है उसमें भी उसे भगवान्‌की दयाका ही अनुभव होता रहता है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है। इससे उसके द्वारा जो कुछ होता है वह भगवान्‌के संकेतके अनुसार ही होता है। भगवान्‌की जैसी इच्छा हो वैसे उससे कर्म करावें। वह उस क्रियासे होनेवाले फल—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय—सभीमें सम होकर रहता है। जिसने अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर दिया है, उस मनुष्यके द्वारा जो कुछ कर्म होता है वह शास्त्रके अनुकूल ही होता है, शास्त्रके विरुद्ध और व्यर्थ कर्म उसके द्वारा नहीं होता; क्योंकि उसकी सारी क्रिया भगवान्‌के द्वारा ही संचालित होती है। इसलिये उस मनुष्यकी सारी क्रिया भगवान्‌की लीलाके समान है। वह संसारके लिये भी बहुत लाभदायक होती है; क्योंकि वह आदर्श है। इसलिये दूसरे मनुष्य उसका अनुकरण करके ही मुक्त हो जाते हैं। ऐसे श्रेष्ठ महापुरुषके ही सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

निष्कर्ष यह समझना चाहिये कि उस मनुष्यको अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो घटना, पदार्थ, परिस्थिति आदि प्राप्त होते हैं और स्वेच्छासे भी उसके शरीरद्वारा जितने कर्म होते हैं, उन सबमें वह भगवान्‌की अनन्त अपार दयाका पद-पदमें दर्शन करता रहता है। वह सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान्‌के स्वरूपका और सम्पूर्ण क्रियाओंमें भगवान्‌की लीलाका अनुभव करके भगवान्‌की असीम दयाका दर्शन करता रहता है एवं सभी परिस्थितियोंमें निर्विकार, सम, संतुष्ट, प्रसन्न और शान्त रहता है।

इस प्रकार अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्‌में लगा देना ही भगवान्‌की अनन्य शरण है। भगवान्‌की अनन्य शरण कहें या अनन्य भक्ति—सिद्धान्तसे दोनों एक ही बात है। गीतामें जहाँ भगवान्‌ने शरणका वर्णन किया है वहाँ भक्तिको भी उसका एक प्रधान अङ्ग कहा है। जैसे, उपर्युक्त शरणागति-प्रतिपादक श्लोकमें **'मद्भक्तो भव'** कहकर भक्तिका मुख्यरूपसे लक्ष्य कराया है। इसी प्रकार गीताके ग्यारहवें अध्यायके ५४-५५वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका वर्णन किया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको

करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और समस्त भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यहाँ ५५वें श्लोकमें अनन्य भक्तिके स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये भक्तके लक्षणोंमें '**मत्परमः**' कहकर शरणागतिको भक्तिका एक प्रधान अङ्ग बतला दिया है। इससे यह समझना चाहिये कि अनन्यशरण और अनन्य भक्ति वस्तुतः एक ही है।

इसी तरह जो मनुष्य भगवान्‌के अनन्यशरण हो जाता है, वह भगवद्भक्त सर्वथा और सर्वत्र निर्भय हो जाता है। उसे किसीका भी भय नहीं रहता। यमदूत आदि उसके निकट भी नहीं आ सकते। श्रीविष्णुपुराणमें श्रीभीष्मजीके वचन हैं—

किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा॥

(अंश ३अ० ७ श्लोक ३८)

'जिसका हृदय निरन्तर भगवान् केशवके परायण है उसका यम, यमदूत, यमपाश, यमदण्ड अथवा यमयातना कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते।'

इस प्रसंगमें पितामह भीष्मजीने महामना नकुलके प्रति, यमराजके द्वारा अपने दूतोंको दिये हुए आदेशका वर्णन करते हुए भक्तोंके लक्षण कुछ विस्तारसे बतलाये हैं, वे वहाँ पढ़कर मनन और धारण करनेयोग्य हैं। ऐसे भगवद्भक्त जहाँ प्राणत्याग कर रहे हों, वहाँ यमराज और यमदूत दोनोंका ही जानेका अधिकार नहीं है। श्रीभीष्मजी कहते हैं—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम्॥

'अपने अनुचरको हाथमें पाश लिये देखकर यमराजने उसके कानमें कहा—'भगवान् मधुसूदनके शरणागत व्यक्तियोंको तुम छोड़ देना; क्योंकि जो विष्णुभक्त नहीं हैं ऐसे अन्य मनुष्योंका ही मैं स्वामी हूँ।'

हरिममरवरार्चिताङ्घ्रिपद्मं
प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्यः।
तमपगतसमस्तपापबन्धं
व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम्॥

'जो भगवान्‌के सुरवरवन्दित चरणकमलोंको परमार्थबुद्धिसे प्रणाम करता है, समस्त पापबन्धनोंसे मुक्त हुए उस मनुष्यको तुम दूरसे ही उसी प्रकार छोड़कर निकल जाना, जिस प्रकार घृताहुतिसे प्रज्वलित प्रचण्ड अग्निको लोग छोड़कर निकल जाते हैं।'

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा
विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम्।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीवभक्तम्॥

'जिस निर्मल-मतिका चित्त कलिकल्मषरूप मलसे मलिन नहीं हुआ और जिसने अपने हृदयमें सर्वदा भगवान् जनार्दनको बसा लिया है उस मनुष्यको तुम भगवान्‌का अतीव भक्त समझो।'

कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या
तृणमिव यः समवैति वै परस्वम्।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः
पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥

'जो एकान्तमें पड़े हुए दूसरेके स्वर्णको देखकर भी उसे अपनी बुद्धिके द्वारा तृणके समान समझता है और निरन्तर भगवान्‌का अनन्यभावसे

चिन्तन करता है उस नरश्रेष्ठको तुम विष्णुका भक्त जानो।'

विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः
शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः ।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायो
वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः ॥
वसति हृदि सनातने च तस्मिन्
भवति पुमाञ्जगतोऽस्य सौम्यरूपः ।

'जो मनुष्य निर्मलबुद्धि, मात्सर्यरहित, प्रशान्त, शुद्धचरित्र, समस्त जीवोंका सुहृद्, प्रिय और हितकर वचन बोलनेवाला तथा अभिमान और माया (कपट) से रहित होता है, उसके हृदयमें भगवान् वासुदेव सदा विराजमान रहते हैं। एवं उन सनातन भगवान्‌के हृदयमें विराजित हो जानेपर मनुष्य इस जगत्‌के लिये सौम्यरूप (शान्तरूप) हो जाता है।'

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम् ।
अपगतमदमानमत्सराणां
त्यज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥

'हे दूत ! यम[1] और नियम[2]के द्वारा जिनकी पापराशि दूर हो गयी है, जिनका हृदय निरन्तर श्रीअच्युतमें ही आसक्त रहता है तथा जिनमें गर्व, अभिमान और मात्सर्यका लेश भी नहीं रहा है, उन मनुष्योंको तुम दूरसे ही त्याग देना।'

१-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योगदर्शन २।३०)
'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं।'

२-शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योगदर्शन २।३२)
'बाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरण—ये पाँच 'नियम' हैं।'

हृदि यदि भगवाननादिरास्ते
हरिरसिशङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा ।
तदघमघविघातकर्तृभिन्नं
भवति कथं सति चान्धकारमर्के ॥

'यदि खड्ग, शङ्ख और गदा धारण करनेवाले अनादि अव्ययात्मा भगवान् हरि हृदयमें विराजमान हैं तो उन पापनाशक भगवान्‌के द्वारा उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। जहाँ सूर्य विद्यमान हैं वहाँ भला अन्धकार कैसे ठहर सकता है !'

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥

'यह समस्त जगत् और मैं एक परमपुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं, हृदयमें भगवान् अनन्तके स्थित होनेपर जिनकी ऐसी स्थिर बुद्धि हो गयी है, उन्हें तुम दूरसे ही छोड़कर चले जाना।'

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥

'हे कमलनयन ! हे वासुदेव ! हे विष्णो ! हे धरणिधर ! हे अच्युत ! हे शङ्खचक्रपाणे ! आप हमें शरण दीजिये। जो लोग इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पाप व्यक्तियोंको तुम दूरसे ही त्याग देना।'

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा
पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते ।

तव गतिरथ वा ममास्ति चक्र-
प्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः ॥

'जिस पुरुषश्रेष्ठके अन्तःकरणमें वे अव्ययात्मा भगवान् विराज रहे हैं उसका जहाँतक दृष्टिपात होता है, वहाँतक भगवान्‌के चक्रके प्रभावसे अपने बल-वीर्य परास्त हो जानेके कारण तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं है। वह महापुरुष तो अन्य वैकुण्ठादि लोकोंका अधिकारी है।'

(विष्णुपुराण अं० ३ अ० ७ श्लोक १४,१८,२१,२२,२४,२४½, २६, २७,३२,३३, ३४)

यह है अनन्य विशुद्ध भगवद्भक्ति (शरणागति) का महान् प्रभाव! अतएव हमलोगोंको उपर्युक्त प्रकारसे अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्‌में ही लगाकर पद-पदपर उनकी अपार दयाका दर्शन करते हुए उनकी प्रसन्नतामें ही अत्यन्त प्रसन्न और परम संतुष्ट रहना चाहिये। इससे बहुत ही शीघ्र परम पदकी प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये योगीश्वर श्रीकविजीने कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥

(श्रीमद्भागवत ११।२।३६)

'मनुष्य अपने शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा परम्परागत स्वभावसे जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।' यह उनकी प्राप्तिका सरल-से-सरल उपाय है।

भगवान्‌के स्वभावका रहस्य

हमलोगोंको जो यह मनुष्य-शरीर मिला है वह भगवान्‌की कृपासे ही मिला है, अपनी करनीसे नहीं, भगवान्‌ने यह कितना सुहृदतापूर्ण नियम बनाया है कि चौरासी लाख योनियोंको भोगनेके बाद तो जीवको आत्माके उद्धारके लिये मनुष्य-शरीर देते ही हैं, चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो। यह अविनाशी जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते हैरान हो जाता है, तब दयामय भगवान् इसपर दया करके मनुष्य-शरीर देते ही हैं।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४४। २-३)

खयाल करना चाहिये, यह भगवान्‌का हेतुरहित दया और प्रेमपूर्ण सुहृदतासे भरा हुआ कितना उच्चकोटिका स्वभाव है। इस सुहृदतापूर्ण स्वभावको यथार्थ जाननेसे मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५। २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

भाव यह कि भगवान् तो सदा-सर्वदा सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं, फिर भी परम दयालुस्वभाव होनेके कारण वे बिना किसी हेतुके स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबका हित ही करते रहते हैं और समय-समयपर अवतार लेकर नाना प्रकारकी ऐसी लीलाएँ करते हैं जिनको सुनकर ही लोग भगवान्‌के परायण हो तर जाते हैं। भागवतमें बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥

(१० । ३३ । ३७)

'भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ।'

उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्का हित भरा रहता है। वे जीवोंके लिये जो भी विधान करते हैं, वह दया और प्रेमसे पूर्ण होता है। जो मनुष्य इस रहस्यको पूर्णतया जानकर यह विश्वास कर लेता है कि भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे हितके लिये ही करते हैं, वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है उसको परम दयालु भगवान्का प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न और संतुष्ट रहता है, इससे उसे परम आनन्द और परम शान्ति मिल जाती है।

वे सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणगणोंके सागर, परम दयालु, परम प्रेमी भगवान् अपनेको जीवोंका सुहृद् बतला रहे हैं। जब मनुष्य उनके इस कथनपर विश्वास करके उनको अपना सुहृद् मान लेता है तब उसे कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति होती है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। वास्तवमें भगवान्के समान भगवान् ही हैं। उनके समान तो संसारमें हेतुरहित दयालु, प्रेमी, निष्कामभावसे परम हित करनेवाला कोई है ही नहीं।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ॥

(रा० च० मा०, किष्किन्धा० १२ । १)

माता-पिता, बन्धु-बान्धव—सभी अपने स्वार्थके लिये ही प्रेम

करते हैं, स्वार्थको छोड़कर कोई नहीं। बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में श्रीयाज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीसे कहा है कि पति, स्त्री, पुत्र, धन आदि सब अपने प्रयोजनके लिये ही प्रिय होते हैं।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (बृ० उ० २।४।५)

'अरी मैत्रेयि! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते; पर अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(रा० च० मा०, किष्किन्धा० ११।१)

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४७।३)

किंतु भगवान् जीवोंसे बिना किसी प्रयोजनके ही प्रेम करते हैं, उनका कितना उच्चकोटिका निःस्वार्थ प्रेमपूर्ण सुहृद् स्वभाव है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं। चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो, भगवान्‌के अनन्यभावसे शरणमें आनेके साथ ही भगवान् उसे शुद्ध बनाकर उसका उद्धार कर देते हैं।

रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

(सुन्दर० ४४।१,४)

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(उत्तर० ८६।४-५)

क्योंकि—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(रा० च० मा०, बाल० २९। ३)

भगवान्‌के चित्तमें भक्तकी भूल-चूक याद नहीं रहती और वे उसके हृदयके सद्भावोंको ही सैकड़ों बार याद करते रहते हैं।

इतना ही नहीं, जो सच्चे हृदयसे 'मैं आपका हूँ' यों वाणीके द्वारा भी एक बार भी कह देता है—उसको भगवान् सदाके लिये निर्भय कर देते हैं। भगवान्‌ने स्वयं यह घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८। ३३)

'जो मनुष्य 'मैं आपका हूँ' इस भावसे भावित होकर केवल एक बार अपनेको सब प्रकारसे मेरे अर्पण कर देता है—भलीभाँति मुझे सौंप देता है उस सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवाले भक्तको अपनाकर मैं सब प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत (नियम) है।'

भगवान्‌का कितना उत्तम स्वभाव है। वे भक्तके प्रेमकी ओर ही देखते हैं, जाति-पाँति, धन, विद्या, बुद्धि,, बल आदिकी ओर नहीं देखते।

भक्त प्रह्लादने भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥

(श्रीमद्भा० ७। ९। ९)

'मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये कोई भी परम पुरुष

भगवान्‌को संतुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं; परंतु भक्तिसे तो भगवान् गजेन्द्रपर भी संतुष्ट हो गये थे।'

क्योंकि भगवान् तो केवल भक्तके अनन्य विशुद्ध प्रेमकी ओर देखते हैं। अनन्य प्रेमी जितना भगवान्‌को प्यारा होता है उतना कोई भी प्यारा नहीं होता।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला (निष्कामी) ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

श्रीबृहस्पतिजीने इन्द्रसे कहा है—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २१९। १)

भगवान् श्रीराम स्वयं काकभुशुण्डिजीसे कहते हैं—

सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ८७ (ख))

इसलिये हमलोगोंको अन्य सबका आशा-भरोसा छोड़कर निष्काम-भावसे भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनी चाहिये।

श्रीभरतजी भगवान्‌के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले परम भगवद्भक्त थे। उनका भगवान्‌में बहुत ही उच्चकोटिका भाव था। श्रीतुलसीदासजीने उनके उत्तम भावोंका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है, जिनमें भगवान्‌के स्वभावका दिग्दर्शन होता है।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० १८३। ३)

राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २०० । ३-४)

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २३४। ३)

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २६० । ३-४)

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २९९। १—४)

जब भगवान् श्रीरामके वनसे अयोध्या लौटनेकी अवधिमें केवल एक ही दिन शेष रह गया तब तो भरतजी भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त

व्याकुल हो जाते हैं और भगवान्‌के मधुर स्वभावको स्मरण करके कहने लगते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० प्रारम्भकी चौ० ३)

भरतजीके कथनका भाव यह है कि भगवान् दीन और दुःखियोंके बन्धु हैं, उनका स्वभाव बहुत ही कोमल है, इस कारण वे अपने भक्तोंके दोषोंकी ओर देख ही नहीं सकते।

अतएव हमलोगोंको भी अपना भाव भरतजीके समान बनाना चाहिये। फिर हमारे कल्याणमें कोई संदेह नहीं; क्योंकि 'भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् हैं' इस तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला मनुष्य भी सारे प्राणियोंका सुहृद् बनकर भगवान्‌का परम भक्त बन जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(१२। १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवान्‌के स्वभावका तत्त्व और रहस्य समझनेपर मनुष्य

भगवान्‌का ही हो जाता है एवं भगवान् उसे अपना यथार्थ तत्त्व जना देते हैं। रामचरितानसमें श्रीवाल्मीकिजीके वचन हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

(अयोध्या० १२७।२)

वही पुरुष भगवान्‌को यथार्थ तत्त्वसे जान सकता है, जिसको भगवान् जनाते हैं तथा जिसके एकमात्र भगवान् ही हैं, जो भगवान्‌पर ही निर्भर है, जो अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, शरीर सब कुछ भगवान्‌को समर्पण कर चुका है, वही भगवान्‌को जाननेका पात्र होता है और उसीको भगवान् अपना यथार्थ स्वरूप जनाते हैं।

गीतामें भी बतलाया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌के समान संसारमें कोई प्रभावशाली या गुणी नहीं है। उनके मुकाबलेमें यह जीव तुच्छ है। इसपर भी मनुष्य भगवान्‌को जिस भावसे, जिस प्रकारसे भजते हैं, भगवान् उन्हें उसी भावसे, उसी प्रकारसे भजते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

अभिप्राय यह है कि वात्सल्य, दास्य, सख्य, माधुर्य आदि जिस किसी भावसे जो भगवान्‌को भजता है, उसे भगवान् उसी भावसे भजते हैं। जैसे, रुक्मिणी आदि पटरानियाँ भगवान् श्रीकृष्णको कान्ताभावसे युक्त स्वकीय माधुर्यभावसे भजती थीं, उनके लिये भगवान् परमपति होकर उनके भावकी पूर्ति करते थे। जो गोपियाँ भगवान्‌को सख्यभावसे युक्त परकीय माधुर्यभावसे भजती थीं, उनके लिये भगवान् वैसे ही सख्यभावसे युक्त प्रेमास्पद बनकर रहते थे। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि वात्सल्यभावसे भजते थे, उनके लिये भगवान् पुत्ररूप होकर रहते थे। अक्रूर आदि भक्त दास्यभावसे भजते थे, उनके लिये भगवान् स्वामी होकर रहते थे। श्रीदामा आदि गोपबालक सख्यभावसे भजते थे, अतः उनके लिये उनके सखा होकर रहते थे। अर्जुन आदि दास्य और सख्य दोनों भावसे भजते थे, इसलिये भगवान् उनके लिये उनके स्वामी और सखा होकर रहते थे।

इसी तरह जो जिस प्रकारसे भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको उसी प्रकार भजते हैं। जैसे शरशय्यापर शयन करते हुए भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं तो भगवान् भी भीष्मजीका ध्यान करते हैं।

महाराज युधिष्ठिरसे भगवान् स्वयं कहते हैं—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥

(महा० शान्ति० ४६। ११)

'राजन्! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है।'

इतना ही नहीं, जो प्रेमसे भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् उनको

अपने हृदयमें बसा लेते हैं और भगवान् उनके हृदयमें बस जाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

ऐसा ही भाव भागवतमें भी मिलता है—

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥

(१०।३८।२२)

'न तो भगवान्‌के कोई प्रिय है और न अप्रिय। न उनका कोई अति सुहृद् है और न कोई शत्रु। उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है। फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आकर याचना करनेवालोंको उनकी मुँहमाँगी वस्तु देता है वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी, जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, उसे उसी रूपमें भजते हैं—वे अपने प्रेमी भक्तोंसे अतिशय प्रेम करते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २४४।१-२)

रामचरितमानसमें भरतजीके वचन हैं—

यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई॥
जगु अनभल भल एकु गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥
जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥

(अयोध्या० २६७। ३-४, २६७)

खयाल करना चाहिये, भगवान्‌का कैसा उच्चकोटिका स्वभाव है। उनके-जैसा परम दयालु कोई नहीं है।

श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १२२। २)

सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १२३। २)

श्रीउद्धवजीने कहा है—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवान्‌ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें?

जो मनुष्य परम दयालु भगवान्‌के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है उसे भगवान्‌के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अतः वह भगवान्‌को छोड़कर नाशवान्, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदिको कैसे भज सकता है ?

भगवान् शिवजी कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ३४। २)

फिर वह भगवान्‌को कभी नहीं भूलता और भगवान् भी उसको कभी नहीं भूलते।

गीतामें बतलाया गया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

सार यह है कि भगवान्‌का बड़ा ही कोमल, मृदुल, सरल, सरस, मधुर और मनोहर स्वभाव है। वास्तवमें उनके समान वे ही हैं। उनके समान अहैतुक दयालु, निःस्वार्थ प्रेमी, सुहृद्, शरणागतवत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन दूसरा कोई नहीं है।

अतः हमलोगोंको भगवान्‌के परम दया और प्रेममय मधुर स्वभावको समझकर उसका नित्य-निरन्तर स्मरण-मनन करते हुए उनके प्रेममें मुग्ध रहना चाहिये। इससे अनायास और शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

भगवन्नामजपका प्रभाव

इस मनुष्य-जन्मकी सार्थकता भगवान्‌की प्राप्तिमें ही है। भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है—यह बात गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीशिवजीके वचन हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(बाल० १८५।३)

श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥

(३।३२।२३)

'भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरंत ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है।'

यही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी भक्त उद्धवसे कहा है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०-२१)

'उद्धव ! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करनेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति । मैं सत्पुरुषोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं एकमात्र अनन्य श्रद्धा-भक्तिसे ही प्राप्त होता हूँ । मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है, जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं ।'

इस प्रकार प्रेमसे ही भगवान्‌की प्राप्ति बतलायी गयी है । वह प्रेम प्राप्त होता है सत्सङ्गसे ।

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ६१)

तथा जैसे विषयोंका चिन्तन करनेसे विषयोंमें प्रेम हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌का चिन्तन करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है । भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जानेपर भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और भगवान्‌के नामका जप अपने-आप ही होता रहता है । फिर वह भगवान्‌को भूल ही नहीं सकता । गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य प्रेम था; अतः वे भगवान्‌को कभी नहीं भूलती थीं । श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१०।४४।१५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

जिस प्रकार भगवच्चिन्तनसे भगवत्प्रेम प्राप्त होता है, वैसे ही केवल भगवन्नामजपसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥

(रा० च० मा०, बाल० २०।३)

श्रीतुलसीदासजीने तो भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के नामकी महिमा गायी है—

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी ॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
भंजेउ राम आपु भवचापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन ॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन ॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ॥

(रा० च० मा०, बाल० २४।१—४; २४)

श्रीतुलसीदासजीने अपने ग्रन्थोंमें 'राम'नामकी विशेष महिमा कही है। इसी प्रकार वेदोंमें और योगदर्शनमें 'ॐ'की, भागवत आदिमें 'कृष्ण' की, शिवपुराणमें 'शिव' की, विष्णुपुराणमें 'विष्णु', 'हरि' आदिकी, गीतामें 'ॐ' 'तत्', 'सत्' नामोंकी,* कुरानशरीफमें 'अल्लाह', 'खुदा' की बाइबिलमें 'गॉड' की, जैनग्रन्थोंमें 'अर्हन्त' और 'ॐ' की, आर्यसमाजके ग्रन्थोंमें 'ॐ' की विशेष महिमा कही गयी है। इसी तरह अन्यान्य सभी सम्प्रदायोंके महानुभावोंने अपने-अपने इष्टदेवके नामकी विशेष महिमा कही है। अतः समझना चाहिये कि राम, कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव, हरि, विष्णु, शिव, ॐ, तत्, सत्, अल्लाह, खुदा, गाड आदि परमात्माके जिस नाममें जिस मनुष्यकी रुचि, श्रद्धा, विश्वास हो, उसके लिये वही सबसे बढ़कर है। इसलिये उसको उसी नामका श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक जप करना उचित है।

वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके जो जप किया जाता है उसे 'वाचिक' जप कहते हैं, उससे वह उपांशु जप श्रेष्ठ है जो होठ और जीभसे दूसरोंको सुनायी न दे, ऐसे मन्दस्वरमें धीरे-धीरे उच्चारण करके किया जाता है; किंतु उससे भी बढ़कर मानसिक जप है।

श्रीमनुजीने तो यज्ञसे भी नामजपकी महिमा बहुत अधिक बतायी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनु० २।८५)

---

* ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

'ॐ' तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

'विधियज्ञ (अग्निहोत्र आदि) की अपेक्षा उच्चारण करके किया हुआ जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

गीतामें भगवान्‌ने 'यज्ञ' के नामसे बहुत-से साधन बताये हैं, उन साधनोंमें जपयज्ञको अपना स्वरूप यानी साध्य बतलाया है—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (गीता १०।२५ का तीसरा चरण) 'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ।'

जो नामजप मनसे—मन लगाकर किया जाता है वह मानसिक जप है। मानसिक जपके कई भेद हैं। जैसे—

(१) जिसमें मनुष्यका विशेष प्रेम होता है वह वस्तु बिना याद किये भी अपने-आप याद आती है और उसको वह भुलानेपर भी भूल नहीं सकता; इसी प्रकार बलात् भगवान्‌के नामकी स्मृति निरन्तर होना—यह सबसे बढ़कर मानसिक जप है।

(२) जिस प्रकार मनमें भगवान्‌के स्वरूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, लीला आदिकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवन्नामकी मनमें बार-बार स्मृति होना—यह भी मानसिक जप है।

(३) दीवालपर लिखे हुए अक्षरोंकी भाँति भगवान्‌के ललाटपर भगवान्‌का नाम लिखा हुआ है, ऐसा मानकर मनसे ही उसे बार-बार पढ़ना—यह भी मानसिक जप है।

(४) हृदय, कण्ठ, भ्रुकुटी आदि स्थानोंमें नाड़ीकी चालके साथ नामजपकी भावना करनेसे उसके द्वारा नामजप होता हुआ प्रतीत होता है, उसका मनसे बार-बार अनुभव करना—यह भी मानसिक जप है।

(५) रात्रिमें सोनेके समय स्वाभाविक ही कानोंमें एक प्रकारका शब्द सुनायी देता रहता है, उसमें राम, शिव, ॐ आदि अल्पाक्षरोंके

भगवन्नामकी भावना करनेसे वह नाम स्वतः ही सुनायी देता है, इसका दृढ़ अभ्यास हो जानेपर चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते भी मनसे उस नामका सुनायी देना—यह भी एक प्रकारका मानसिक जप ही है।

इसके सिवा, जीभ और होठ बंद करके श्वास-प्रश्वासके द्वारा (श्वासके आने-जानेके साथ) जो नामजपका अभ्यास किया जाता है, उसमें अभ्यास हो जानेपर नामका उच्चारण कण्ठसे स्वाभाविक होता रहता है। यह श्वासद्वारा होनेवाला जप उपांशुसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि यह मरणकालपर्यन्त वाणी और नाड़ीकी गति बंद होनेपर भी हो सकता है। किंतु यदि इसके साथ मनको लगा दिया जाय तब तो यह भी मानसिक जपकी गणनामें शामिल हो जाता है।

भगवन्नामजपके साथ उस नामका अर्थ जो नामी—भगवान् हैं, उनका स्मरण रखनेसे वह जप बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण और कल्याण-कारक हो जाता है। योगदर्शनमें बताया गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः। (१।२७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१।२८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (१।२९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और परमात्माके स्वरूपकी भी प्राप्ति हो जाती है।'

गीतामें भगवान् भी कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(८।१३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

किंतु नामजप यदि परम श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किया जाय तो उसकी महिमा तो कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि श्रद्धा-प्रेम होनेसे जप निरन्तर तो अपने-आप ही होने लगता है। फिर यदि किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर निःस्वार्थभावसे केवल कर्तव्य समझकर नामजप किया जाय तो उसके तुल्य तो कोई भी साधन नहीं है। इस प्रकार नामजप करनेवाले साधकको तो तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। उच्चकोटिका विशुद्ध प्रेम निष्कामभाव होनेपर ही होता है। उसीको अनन्य विशुद्ध परम प्रेम कहते हैं, जिसके प्राप्त होनेपर भगवत्साक्षात्कार होनेमें क्षणभरका भी विलम्ब नहीं हो सकता।

किंतु याद रखना चाहिये कि उस सच्चे प्रेममें दिखाऊपन कभी नहीं रहता। सच्चा प्रेमी 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा कहता-कहलाता नहीं, बल्कि स्वयं वैसा बनता है। जो मनुष्य संसारमें 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा प्रचार करता है, वह सच्चा विशुद्ध प्रेमी नहीं है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और कञ्चन-कामिनी, भोग-आरामका इच्छुक पुरुष ही लोकदिखाऊ प्रेम किया करता है। परंतु प्रेम न करनेसे तो ऐसा सकाम प्रेम करना भी अच्छा है; क्योंकि कभी आगे जाकर वही प्रेम सकामसे निष्काम हो सकता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि निष्काम और अनन्य प्रेम होनेपर ही भगवान् अपना दर्शन देनेके लिये विशेष बाध्य होते हैं (गीता ११।५४)। यदि भगवान्

निष्काम प्रेम न होनेपर भी अनन्य भक्तिसे दर्शन दे दें तो यह उनकी विशेष उदारता है।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् स्वयं निष्काम भजन करनेवाले भक्तकी विशेषता बतलाते हैं—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(अरण्य० १६)

जो नामोच्चारण अकेले या बहुत व्यक्ति मिलकर बाजेके साथ या बिना बाजेके उच्चस्वरसे सामूहिक रूपमें किया जाता है, उसे 'कीर्तन' कहते हैं। उस नाम-कीर्तनकी महिमा भी अपार है। किंतु उसमें भी प्रधानता श्रद्धा-प्रेमकी ही है। जितना ही अधिक श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभाव होता है, उतना ही वह अधिक मूल्यवान् है। श्रीनारदजी, श्रीतुलसीदासजी, श्रीसूरदासजी, श्रीनरसिंह मेहता, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु एवं मीराँबाई आदि बहुत-से भक्त कीर्तन-प्रेमी माने जाते हैं।

किंतु श्रीमद्भागवतमें तो यहाँतक बतलाया गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६।२।१८)

'जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है, उसी प्रकार पवित्रकीर्ति श्रीहरिके नामका संकीर्तन जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है।'

श्रीशुक्राचार्यजीने भगवान्‌से कहा है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥

(श्रीमद्भा० ८।२३।१६)

'प्रभो ! मन्त्रोंकी अनुष्ठानपद्धतिकी, देश, काल, पात्र और वस्तुकी सारी भूलें आपके नाम-संकीर्तनसे सुधर जाती हैं। आपका नाम सारी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है।'

यही नहीं, भगवन्नामजपका बड़ा भारी प्रभाव है। नामजपके प्रभावसे तो स्वयं भगवान् ही उस जापकके वशमें हो जाते हैं—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

(रा० च० मा०, बाल० २६। ३)

भक्त हनुमान्‌जीकी भगवान्‌के नाममें परम निष्ठा थी। अध्यात्म-रामायणमें समुद्रोल्लङ्घनके समय वे कहते हैं—

प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन्॥
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम्।

(सुन्दर० १। ४-५)

'प्राण निकलते समय जिन भगवान्‌के नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसारसागरसे तरकर उनके परमधामको चला जाता है।'

राज्याभिषेकके पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीकी भक्तिसे प्रसन्न हो उन्हें वर माँगनेको कहते हैं तब श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त हर्षित हो यही वर माँगते हैं—

त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम॥
अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले।

(अध्यात्म० युद्ध० १६। १२-१३)

'हे रामजी ! आपका नाम स्मरण करते हुए मेरा मन तृप्त नहीं होता है; इसलिये मैं सदा-सर्वदा आपका नाम स्मरण करता हुआ ही इस पृथ्वीपर स्थित रहूँ।'

भगवान् श्रीरामने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें वर दिया। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥

(१२।३।४४)

'मनुष्य मरते समय, आतुर-अवस्थामें, गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्‌के नामका उच्चारण कर ले तो वह सारे कर्मबन्धनोंसे छूटकर उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है। ऐसा होनेपर भी घोर कलियुगमें मनुष्य उन भगवान्‌की उपासना तत्परतासे नहीं करते हैं।'

इतना ही नहीं, मनुष्य कैसा भी पापी क्यों न हो, नामजपके प्रभावसे उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और उसका कल्याण हो जाता है।

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

(रा० च० मा०, बाल० २६।४; २७।१,३)

किसी कविने भी कहा है—

जबहिं नाम हिरदै धरयो भयो पापको नास।
मानो चिनगी आगकी परी पुराने घास॥

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के पार्षदोंके वचन हैं—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥

(६ । २ । १०)

'सभी पापियोंके लिये इतना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण किया जाय; क्योंकि भगवन्नामोंके उच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌के गुण, लीला और स्वरूपमें रम जाती है और स्वयं भगवान्‌की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है।'

श्रीशुकदेवजी परीक्षित्‌से कहते हैं—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । २ । ४९)

'अजामिल-जैसे पापीने मरते समय पुत्रके निमित्तसे भगवान्‌के नामका उच्चारण किया था, किंतु उसे भी परमधामकी प्राप्ति हो गयी; फिर जो लोग श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है।'

श्रीसूतजीने कहा है—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ४६)

'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है— '**हरये नमः**' वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

श्रीनारदपुराणमें श्रीसनकजी नारदजीके प्रति कहते हैं—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः॥

(पूर्व० ४१। ९९-१००)

'जो लोग प्रतिदिन हरे ! केशव ! गोविन्द ! वासुदेव ! जगन्मय ! इत्यादि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता।'

और भी कहते हैं—

अहो चित्रमहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विज।
हरिनाम्नि स्थिते लोकः संसारे परिवर्तते॥

(नारद० पूर्व० ३४। ४८)

'ब्रह्मन्! यह बड़े आश्चर्यकी बात है, बड़ी अद्भुत बात है और बड़ी विचित्र बात है कि भगवान् विष्णुके नामके रहते हुए भी लोग जन्म-मृत्युरूप संसारमें चक्कर काटते हैं।'

स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा।
चिन्तयेद्यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः॥

(नारद० पूर्व० ३९। ६)

'जो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे नित्य बारम्बार नमस्कार है।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारद० पूर्व० ४१।११५)

'भगवान् विष्णुका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें दूसरी कोई गति है ही नहीं, है ही नहीं, है ही नहीं।'

श्रुति भी कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १।२।१६)

'यह अक्षर (ॐ) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसलिये इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह नामकी भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है। यहाँ तो कुछ साधारण दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतः नामकी महिमा कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि गाना तो वाणीसे ही होता है; किंतु वाणी परिमित है और भगवन्नामकी महिमा अपरिमित है। अतः उसकी महिमा मनुष्य कहाँतक गा सकता है। यह कथन भी कोई अनुचित नहीं कि भगवान्‌के नामकी महिमा भगवान् भी नहीं गा सकते—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(रा० च० मा०, बाल० २६।४)

इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌में परम प्रेम होनेके लिये अनन्य विशुद्ध श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मनसे हर समय भगवान्‌के नामका जप करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

****

आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें

ज्ञान, भक्ति आदि साधनोंके अनुसार यहाँ ऐसी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें बतलायी जाती हैं, जिनको धारण करनेपर मनुष्यका निश्चय ही कल्याण हो सकता है।

(१) आत्मोद्धारके लिये भगवान्‌ने गीतामें दो ही निष्ठा बतलायी है—ज्ञाननिष्ठा (अद्वैतवाद) और योगनिष्ठा (द्वैतवाद—भक्तियोग और कर्मयोग)।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

भगवान्‌ने इसके पूर्व दूसरे अध्यायमें श्लोक ११से ३० तक ज्ञाननिष्ठाका एवं श्लोक ४० से ७२ तक योगनिष्ठाका वर्णन किया है; जिसमेंसे श्लोक ४७से ५१ तक तो प्रधानतासे कर्मयोगका विवेचन है और श्लोक ६१ में भक्तियोगका उल्लेख है।

ये दोनों ही निष्ठाएँ कल्याण करनेवाली हैं।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

(गीता ५। ४)

'उपर्युक्त सांख्य और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक्प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमपद प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है; इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है वही यथार्थ देखता है।'

इसलिये मनुष्यको अपनी रुचि और योग्यताके अनुकूल इन दोनोंमेंसे किसीका भी तत्परतासे अनुष्ठान करना चाहिये।

(२) सांख्य (ज्ञान) की दृष्टिसे आत्मा और अनात्मा—इन दोनोंका यथार्थ तत्त्व समझना चाहिये। इस विषयमें एक श्लोक है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

'जो करोड़ों ग्रन्थोंमें कहा गया है उसीको मैं इस आधे श्लोकसे बतलाता हूँ कि जीव ब्रह्म ही है, भिन्न नहीं। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है।'

अतः अद्वैतमार्गके साधकोंको नित्य-निरन्तर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके भावका और दृश्यरूप संसारको स्वप्नवत्, मायामात्र, कल्पित, अनित्य और असत् समझते हुए उसके अभावका अनुभव करना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

तात्पर्य यह कि सत्य वस्तु जो परमात्मा है उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो अनित्य देहादि दृश्य पदार्थ हैं वे कभी कायम नहीं रहते।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

(गीता २। १८)

'इस नाशरहित अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

अतः ज्ञानयोगके साधकोंको इस प्रकार आत्मा और अनात्माके तत्त्वको भलीभाँति समझ लेना परम आवश्यक है।

(३) सगुण भगवान्के दो स्वरूप हैं—निराकार और साकार। इन दोनों स्वरूपोंकी उपासना भेदभावसे होती है। निराकारकी उपासनाका प्रकरण गीता ८। ९,१०, २२; ९। ४—६; १०। २०; १५। १५, १७ आदिमें मिलता है। साकार उपासनाका प्रकरण गीता ४। ६—११; ९। २६; १०। १२, १५; ११। ७, १७, ३६—४६; १८। ७७ आदिमें मिलता है। इनके सिवा, गीतामें बहुत-से श्लोक ऐसे भी हैं, जिनके अनुसार साधक अपनी इच्छाके अनुकूल सगुण-साकारकी या सगुण-निराकारकी भी उपासना कर सकता है, जैसे— ६। ४७; ७। १४, १६; ८। ५, ७; ९। २२; १०। ९-१०; ११। ५४-५५; १२। २, ६—८; १८। ६५-६६ आदि।

भक्तिके साधकोंको अपनी इच्छाके अनुसार भगवान्के किसी भी स्वरूपकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना अवश्य करनी चाहिये।

(४) भक्तिके साधकोंके लिये ये दो साधन सार हैं—भगवान्में

परम अनुराग, विशुद्ध अनन्य प्रेम और संसारसे तीव्र वैराग्य। गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

(१५। ३ का उत्तरार्ध, ४)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसार-रूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है उसी आदि पुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

यहाँ तीसरे श्लोकके उत्तरार्धमें वैराग्यका और चौथे श्लोकमें शरणागतिरूप भक्ति-(प्रेम-) का प्रतिपादन किया गया है।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें गोकर्णजीने अपने पिताजीके प्रति कहा है—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥

(४। ७९)

'पिताजी ! यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है । इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको 'अपना' कभी न मानें। इस संसारको रात-दिन क्षणभङ्गुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्यरसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० ३२३।४)

भगवान्‌की निष्काम विशुद्ध भक्ति शीघ्र ही कल्याण करनेवाली है। उसके समान यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी नहीं है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११।५३-५४)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ; परंतु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ और प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

आगे अनन्यभक्तिका स्वरूप बतलानेके लिये अनन्यभक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

(गीता ११ । ५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यहाँ भी '**सङ्गवर्जितः**' कहकर वैराग्यके लिये और '**मत्परमः**', '**मद्भक्तः**'कहकर अनन्य-भक्तिके लिये स्पष्ट संकेत है।

(५) भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर भगवान्‌के लिये ही चिन्तित रहे, संसारके लिये नहीं। किसी कविने कहा है—

केशव केशव कूकिये ना कूकिये असार ।
रात दिवस के कूकते कबहुँ तो सुनै पुकार ॥

जिस प्रकार 'हाय धन ! हाय धन !' करना धनकी तीव्र इच्छाका द्योतक है, वैसे ही भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर 'केशव ! केशव !' कूकना ही भगवद्दर्शनकी तीव्र इच्छाका द्योतक है। अभिप्राय यह कि एकमात्र भगवान्‌से मिलनेकी ही तीव्र इच्छा करे, सांसारिक पदार्थोंकी कभी किंचिन्मात्र भी इच्छा न करे। यह भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा भगवान्‌से मिलानेवाली है; क्योंकि जिस प्रकार भक्त भगवान्‌को भजते हैं, वैसे ही भगवान् भी उनको भजते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

(गीता ४ । ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

किंतु धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, आरोग्य आदिकी तीव्र इच्छा करनेपर भी वे धनादि पदार्थ मनुष्यको इच्छानुसार नहीं मिलते। सभी लोग आरोग्य चाहते हैं, किंतु इच्छा करनेमात्रसे आरोग्य नहीं प्राप्त होता। दुःखको कोई नहीं चाहता, सुख सभी चाहते हैं; पर इच्छा करनेमात्रसे ही सुख नहीं मिलता, न दुःख ही निवृत्त होता है। इसका कारण यही है कि मनुष्य ही धनादि पदार्थोंकी चाह करता है, धनादि पदार्थ उसे नहीं चाहते। महाभारतमें महाराज युधिष्ठिरके प्रति भीष्मजीके वचन हैं—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

(भीष्म० ४३। ४१)

'महाराज ! पुरुष अर्थका दास है; किंतु अर्थ किसीका दास नहीं है। यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ।'

इस कथनसे यही तात्पर्य निकलता है कि धनादि पदार्थ किसीके दास नहीं हैं—वे किसीको नहीं चाहते। इसलिये मनुष्यको भगवान्‌से मिलनेकी ही तीव्र इच्छा करना उचित है, अन्य किसीकी नहीं।

(६) संत समागम और हरिभक्ति—ये दो साधन बहुत महत्त्वके हैं। किसी कविने कहा है—

सुत दारा अरु लच्छमी पापीके भी होय।
संत समागम हरि-भगति दुर्लभ जगमें दोय॥

भगवान् श्रीकृष्ण तो भक्त उद्धवसे कहते हैं—

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। ४८)

'प्यारे उद्धव ! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्तियोग इन

दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये। प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई सुगम उपाय नहीं है, क्योंकि संत पुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ।'

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे अपनी भक्ति करनेवाले भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

(रा० च० मा०, उत्तर ४४। ३)

सत् नाम परमात्माका है, उनमें प्रीति होना ही उनका सङ्ग है। वह परमात्माकी प्रीति सत्संगसे ही प्राप्त होती है।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ६१)

सत्संगके बिना हरिकथा नहीं मिलती, उस हरिकथाके बिना मोह दूर नहीं होता और मोह दूर हुए बिना भगवान् श्रीरामके चरणोंमें दृढ़ प्रेम नहीं होता।

उदाहरणके लिये भगवान्‌की भक्तिको ही एक वृक्ष समझना चाहिये। सत्संग करना ही उस वृक्षमें जल सींचना है, उससे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होना ही वृक्षका हरा-भरा होना है और भगवान्‌की प्राप्ति ही उसका फल है।

(७) मनुष्य दो बातोंको कभी न भूले—१ भगवान्‌को, २ मृत्युको। श्रीनारायणस्वामीने कहा है—

दो बातन को भूल मत जो चाहे कल्यान।
नारायण इक मौत को दूजे श्रीभगवान॥

मृत्युको हर समय अपने निकट देखनेसे मनुष्यसे पाप नहीं बन पाता; क्योंकि शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाता है। एवं भगवान्‌का हर समय स्मरण रखनेसे पापोंका नाश होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जो सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण करता है, उसे अन्तकालमें भगवान् अवश्य ही स्मरण हो जाते हैं; क्योंकि मनुष्य जैसा सदा-सर्वदा अभ्यास करता है, उसका अन्तकालमें वैसा ही अभ्यास स्वाभाविक ही होता है। भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

अतएव मनुष्यको हर समय ही भगवान्‌का स्मरण रखना चाहिये। अर्जुनसे भी भगवान्‌ने यही कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

(८) आत्मकल्याणके लिये चित्तवृत्तियोंका निरोध और मनको वशमें करना प्रधान बताया गया है। मनको वशमें किये बिना

परमात्माकी प्राप्ति रूप योगकी सिद्धि सम्भव नहीं। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—ऐसा मेरा मत है।'

मनके निरोध और वशमें करनेके दो ही उपाय प्रधान हैं—अभ्यास और वैराग्य।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगदर्शन १। १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है।'

मनको वशमें करनेके ये ही दो उपाय भगवान्‌ने गीतामें भी बतलाये हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(६। ३५)

'हे महाबाहो! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

श्रीपतञ्जलिजीने अभ्यासका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगदर्शन १। १३)

'उन दोनोंमेंसे, चित्तकी स्थिरताके लिये जो प्रयत्न करना है वह अभ्यास है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥

(योगदर्शन १। १४)

'परंतु वह अभ्यास बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है !'

गीतामें अभ्यासका रूप भगवान्‌ने यों बताया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६।२६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन, जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही लगावे।'

श्रीपतञ्जलिजीने वैराग्यका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १।१५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (योगदर्शन १।१६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है—वह 'पर वैराग्य' है।'

गीतामें वैराग्यका रूप यों बताया गया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन !

बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' तथा—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३। ८ का उत्तरार्ध)

'जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना—'वैराग्य' है।'

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य करनेसे मन वश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

(९) सद्गुण और सदाचारका सेवन एवं दुर्गुण और दुराचारका त्याग आत्मकल्याणमें परम आवश्यक है।

भगवान् प्रेरणा करते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५ का पूर्वार्ध)

'अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले।'

सद्गुण-सदाचारका सेवन करना और दुर्गुण-दुराचारका त्याग करना ही अपनेद्वारा अपना उद्धार करना है; किंतु इसके विपरीत करना अपनेद्वारा अपना पतन करना है।

सद्गुण-सदाचारोंके समूहका नाम दैवी सम्पदा है और दुर्गुण-दुराचारोंके समूहका नाम आसुरी सम्पदा है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

(गीता १६। ५)

'दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी

सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है।'

दैवी सम्पदा गीतामें यों बतलायी गयी है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(१६।१—३)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्व-ज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव— ये सब तो हे अर्जुन ! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

इसके विपरीत आसुरी सम्पदा है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

(गीता १६। ४)

'हे पार्थ! दम्भ, घमंड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

इस आसुरी सम्पदाका विस्तार गीताके सोलहवें अध्यायमें श्लोक ७ से २१ तक किया गया है, जिनपर विस्तृत विवेचन 'गीता-तत्त्व-विवेचनी' टीकामें देख लेना चाहिये।

उपर्युक्त आसुरी सम्पदाका परित्याग करके दैवी सम्पदाको ग्रहण कर लेनेपर ही मनुष्यका कल्याण सम्भव है।

(१०) दूसरोंका हित करना ही परमधर्म है और दूसरोंका अनिष्ट करना ही परमपाप है। प्रसिद्ध है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

'अठारह पुराणोंमें श्रीवेदव्यासजीके दो सार वचन हैं कि दूसरोंका उपकार करना धर्मके लिये प्रधान है और दूसरोंको पीड़ा देना पापके लिये प्रधान है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४०। १)

इसलिये मनुष्यको उचित है कि मन, वाणी, शरीरके द्वारा सबका लौकिक और पारलौकिक हित ही करे, किंतु अनिष्ट तो किसीका किंचिन्मात्र भी किसी भी निमित्तको लेकर कभी न करे। अभिप्राय यह कि न किसीको बुरा समझे, न किसीका बुरा चाहे, न किसीका बुरा करे और न किसीके दोषोंको देखे।

उपर्युक्त सभी बातें मनुष्यका परम कल्याण करनेवाली हैं। इसलिये मनुष्यको इनको भलीभाँति समझकर काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवत्प्राप्तिके विविध साधन

परमात्माकी प्राप्तिके लिये भगवान् और ऋषि-मुनियोंने बहुत-से साधन (उपाय) बतलाये हैं। उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार अभ्यास किया जाय तो निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे अभ्यास करनेयोग्य कुछ साधनोंका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

(१) एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही ब्रह्म है। उस आनन्दमय ब्रह्मका मनसे इस प्रकार मनन करना कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, अनन्त आनन्द, बस, एक आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनन करते-करते मन मनन-क्रियासे रहित हो उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय हुआ तद्रूप—विलीन हो जाता है। फिर, ऊपर बताये हुए विशेषणोंसे जो ब्रह्मका विशेष रूप बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, उसको ध्येय (लक्ष्य) बनाकर ध्यान करना चाहिये। यहाँ ब्रह्म ध्येय है, बुद्धिकी वृत्ति ध्यान है और साधक ध्याता है। इस प्रकार ध्यान करनेपर बुद्धि तन्मय होकर तद्रूप हो जाती है, तब ध्याता, ध्यान और ध्येयविषयक त्रिपुटी नहीं रहती। केवल एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है, उस साधककी ब्रह्ममें स्थिति हो जाती है। यह सविकल्प समाधि है। इस सविकल्प समाधिमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है। योगदर्शनमें इसको सवितर्क समाधि कहा गया है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।

(योगदर्शन १ । ४२)

'उनमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे संकीर्ण—मिली हुई समाधि सवितर्क है ।'

इसके बाद जब साधक स्वयं ब्रह्ममें तद्रूप हो जाता है, तब वहाँ ये शब्द, अर्थ, ज्ञान नहीं रहते । केवल एक अर्थमात्र वस्तु ब्रह्मका स्वरूप ही रहता है । यही निर्विकल्प समाधि है । इसको योगदर्शनमें निर्वितर्क समाधि कहा गया है ।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।

(योगदर्शन १ । ४३)

'शब्द और प्रतीतिकी स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली चित्तकी स्थिति ही निर्वितर्क समाधि है ।'

इसका फल परम गतिकी प्राप्ति है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप हो गया है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो गयी है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं ।'

(२) **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३ । १४ । १) जड-चेतन, चर-अचर जो भी कुछ है वह सब निःसंदेह परब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है—यों सबमें ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास करना । इस साधनको

भगवान्‌ने गीतामें यज्ञका रूपक देकर यों समझाया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(४। २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

इस प्रकार जो मनुष्य सबमें परमात्मबुद्धि करके परमात्माके स्वरूपका ही सदा-सर्वदा अनुभव करता रहता है, वह उच्चकोटिका महापुरुष समझा जाता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

इसलिये सबमें ब्रह्मबुद्धि करनेका अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि जो कुछ नाना रूपमें दीखता है वह एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है, उसका ही विस्तार है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(१३। ३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मा-

में ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

(३) एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके भावका और अन्य समस्त दृश्यरूप संसारको स्वप्नवत्, मायामात्र, कल्पित, अनित्य और असत् समझते हुए उसके अभावका अनुभव करना।

भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(८।२०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

इस प्रकार अभ्यास करनेपर उसके अनुभवमें प्रकृति और उसके कार्यका अभाव होकर एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही रह जाता है।

(४) गीतामें अध्याय १८ श्लोक ४९ से ५५ तक ज्ञानकी निष्ठाके नामसे वर्णित ध्यानकी प्रणालीके अनुसार ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे एकान्तमें साधन करना। इस साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

(५) गीतामें अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक भगवान्ने जो ज्ञानकी प्राप्तिके साधन बतलाये हैं और जिनको भगवान्ने 'ज्ञान' संज्ञा दी है, उन साधनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना। इस प्रकारका ज्ञानमय जीवन बनानेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

(६) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माके स्वरूपका ही अनुभव करके मनको उसमें तन्मय कर देना—उसीमें लगा देना। कहा भी है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।

अभिप्राय यह कि भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार जिस स्वरूपमें अपनी श्रद्धा, रुचि हो, उसीमें भेद या अभेदभावसे अपने मनका समाधान कर देना—भलीभाँति लगा देना और सर्वत्र मनसे उसीका अनुभव करना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करते-करते मन परमात्मामें तन्मय हो सकता है।

(७) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे अपने इष्टदेव परमात्माके निर्गुण, सगुण, निराकार या साकार स्वरूपमें लगानेका प्रयत्न करना।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

(६ । २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही लगावे।'

(८) अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर— सबको पूर्णरूपसे भगवान्‌के समर्पण कर देना। यही भगवत्-शरणागति है। इसमें मनके द्वारा निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करना, भगवान्‌के सिवा और किसीका भी चिन्तन न करना—यह मनको भगवान्‌के अर्पण करना है (गीता ८ । १४ ; ९ । २२)। 'भगवान्‌के सिवा और कोई मेरा नहीं है'—बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके एकमात्र भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम करना—यह बुद्धिको भगवान्‌के अर्पण करना है (गीता ९ । ३०)। 'भगवान् सबमें व्यापक हैं' ऐसा समझकर भगवद्भावसे सबका आदर-सत्कार और सेवा करना—यह इन्द्रियोंको भगवान्‌के अर्पण करना है

(गीता १८।४६) तथा शरीरको अपना न मानकर भगवान्‌का मानना यानी शरीरमें अहंता-ममतासे रहित हो जाना और शरीरनिर्वाहके लिये जो भी कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहना—यह शरीरको भगवान्‌के अर्पण करना है। इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जानेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९।३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

(९) मन, वाणी, नाड़ी, श्वास, कण्ठ आदि किसीके द्वारा भी अपने परम इष्टदेव भगवान् राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदिके किसी भी नाम-रूपका परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे निरन्तर जप-ध्यान करना।

योगदर्शनमें भी बतलाया गया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योगदर्शन १।२३)

'ईश्वरप्रणिधानसे भी समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योगदर्शन १।२७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योगदर्शन १।२८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योगदर्शन १।२९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है।'

(१०) केवल एक भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम (अनुराग) करना। इससे भगवान्‌की शीघ्रातिशीघ्र प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा० च० मा०, बाल० १८४। ३)

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० १३७। १)

किसी संस्कृत-कविने कहा है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधमें क्या सदाचार था? ध्रुवकी अवस्था ही कितनी थी? गजराजमें ऐसी कौन विद्या थी? कुब्जाके नाम-रूपमें कौन-सा उत्कृष्ट सौन्दर्य था? सुदामाके पास क्या धन था? विदुरका कौन-सा उच्च कुल था? यादवपति उग्रसेनमें कहाँका पुरुषार्थ था? भगवान् तो भक्तिके प्रिय हैं। वे केवल भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं।'

अतः भगवान्‌में प्रेम करना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। भगवान्‌में प्रेम होनेके अनेक उपाय हैं। भगवान्‌में प्रेम होनेकी तीव्र लालसा जाग्रत् रहनेसे स्वाभाविक ही भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। 'एकमात्र भगवान् ही हमारे हैं, इस प्रकार भगवान्‌के प्रति अपनत्वके भावसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। जैसे सांसारिक विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति (प्रेम) हो जाती है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

(गीता २ । ६२ का पूर्वार्ध)

इसी प्रकार भगवान्‌का चिन्तन करनेवालेका भगवान्‌में प्रेम हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २७)

'जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसका चित्त मुझमें ही तल्लीन हो जाता है ।'

केवल भगवान्‌के नाम-स्मरणसे भी भगवान्‌में प्रेम होता है— श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥

(रा० च० मा०, बाल० २० । ३)

भगवान्‌के और भगवद्भक्तोंके जीवन-चरित्रोंको पढ़ने-सुननेसे भी भगवान्‌में प्रेम होता है । भगवान्‌में दृढ़ श्रद्धा-विश्वास होनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होता है और सत्संगसे भी भगवान्‌में प्रेम होता है । सत्संगके लिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ६१)

भगवान्‌के शरण होकर करुणाभावपूर्वक स्तुति-प्रार्थना करनेसे भी प्रेम होता है एवं भगवान्‌के गुण-प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होता है ।

इस प्रकार भगवान्‌में प्रेम होनेके और भी बहुत-से उपाय हैं । और

कुछ चाहे हो या न हो, भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृढ़ अनुराग होना परम आवश्यक है। इसलिये भगवान्‌में विशुद्ध और अनन्य प्रेम—अनुराग होनेके लिये उपर्युक्त उपायोंको करनेकी चेष्टा तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त करनी चाहिये। इससे भगवान्‌में परम प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

(११) भगवान्‌के साथ दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि किसी भी प्रकारके भावसे सम्बन्ध स्थापित करना। जैसे, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका सख्यभावसे युक्त विशुद्ध परकीय माधुर्यभाव था, रुक्मिणी आदि पटरानियोंका कान्ताभावसे युक्त स्वकीय माधुर्यभाव था, अर्जुनका दास्य और सख्यभाव था, गोप-बालकोंका केवल सख्य-भाव था, श्रीनन्द-यशोदा और वसुदेव-देवकीका वात्सल्यभाव था, अक्रूरका दास्यभाव था। इसी प्रकार भगवान् श्रीरामके प्रति दशरथ-कौसल्याका वात्सल्यभाव था, भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न-हनुमान्‌का दास्यभाव था, सीताका माधुर्यभाव था, विभीषणका दास्य और सख्यभाव था, सुग्रीवका सख्यभाव था एवं श्रीतुलसीदासजीका केवल दास्यभाव था। इसीसे श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ११९ क)

वस्तुतः भाव ही प्रधान है। बिना भावके किसी भी क्रियाका विशेष मूल्य नहीं है। अतः हमलोगोंको अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचिके अनुसार किसी भी भावसे भावित होकर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये।

(१२) भगवान्‌की सत्ता, स्वरूप, गुण, प्रभाव, महिमा और उनके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना। तात्पर्य यह कि

भगवान् सम्पूर्ण दिव्य अलौकिक गुणोंसे सम्पन्न हैं। उनके समान कोई गुणी नहीं है। न भगवान्‌के समान कोई प्रभावशाली है। वे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ, असम्भवको भी सम्भव कर सकनेवाले और समस्त सौन्दर्यके महान् केन्द्र हैं। संसारमें जो भी कुछ गुण, प्रभाव, महिमा, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदि प्रतीत होता है, वह सब भगवान्‌के गुण, प्रभाव, सौन्दर्य आदिके एक अंशका आभासमात्र है। भगवान् हैं, मिलते हैं, अनेक मनुष्योंको मिले हैं, मुझे भी अवश्य मिलेंगे—इस प्रकार जो भगवान्‌के सम्बन्धमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर दृढ़ विश्वास है, वह परम श्रद्धा है। जैसे महर्षि हारिद्रुमत गौतमके वचनोंमें जबालाके पुत्र सत्यकामकी परम श्रद्धा थी, जिसके फलस्वरूप उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी (छान्दोग्य० ४। ४—९); उससे भी बढ़कर गीतादिमें कहे हुए जो भगवान्‌के वचन हैं उनमें दृढ़ विश्वास करके मनुष्यको उनके अनुसार चलना चाहिये। इससे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है; क्योंकि श्रद्धाकी कमीके कारण ही परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है। परम श्रद्धा होनेपर फिर परमात्माकी प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

(१३) भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके, मनसे उनको अपने सम्मुख उपस्थित देखकर चरणसे लेकर मस्तकतक उनके प्रत्येक अङ्गका दर्शन करते हुए मुग्ध होना और

भगवान्‌के स्वरूपकी मानसिक सामग्रियोंसे बहुत प्रेमपूर्वक मानसिक पूजा करना। इस पूजामें पत्र, पुष्प, फल, जल आदि पूजाकी सभी सामग्री मानसिक है, भगवान्‌का स्वरूप भी मानसिक है और पूजा करनेवाला साधक भी अपने मानसिक शरीरसे ही पूजा करता है। मन्त्रोंका उच्चारण और पूजाकी सारी क्रिया भी मानसिक होती है। यह श्रद्धा-प्रेमपूर्वक की हुई मानसिक पूजा बाहरी मूर्तिपूजाकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि बाहरी पूजामें तो मन इधर-उधर चला जाता है। किंतु इस मानसिक पूजामें मन अन्यत्र नहीं जा सकता; क्योंकि इस पूजामें सभी कुछ मानसिक है। यदि मन ही अन्यत्र चला जाय तो फिर यह पूजा ही कैसे हो ? चाहे मानसिक पूजा हो चाहे मूर्तिपूजा; श्रद्धा-प्रेमपूर्वक की गयी पूजाको भगवान् स्वीकार करते हैं। वे स्वयं कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

(१४) यम-नियमोंका पालन करते हुए एकान्त स्थानमें सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि किसी भी आसनसे बैठकर प्राणायामका अभ्यास करना और विषयोंसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध विच्छेद करके एकदेशमें यानी परमात्माके सगुण स्वरूपमें ही चित्तको एकाग्र करके परमात्माका ध्यान करना। इस प्रकार साधन करनेसे मनुष्यकी समाधि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

(योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योगदर्शन २।३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव) ये पाँच यम हैं।'

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(योगदर्शन २।३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरणागति—ये पाँच 'नियम' हैं।'

स्थिरसुखमासनम् । (योगदर्शन २।४६)

'निश्चल (हलन-चलनसे रहित) सुखपूर्वक बैठनेका नाम 'आसन' है।'

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

(योगदर्शन २।४९)

'आसन सिद्ध होनेके बाद श्वास और प्रश्वासकी गतिका रुक जाना 'प्राणायाम' है।' प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंकी गतिका रुक जाना प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । (योगदर्शन २।५०)

'उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति—ऐसे तीन प्रकारका होता है। तथा वह देश, काल और संख्याद्वारा भलीभाँति देखा जाता हुआ लम्बा और हलका होता जाता है।'

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः । (योगदर्शन २।५१)

'बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप

होनेवाला चौथा प्राणायाम है।'

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

(योगदर्शन २।५४)

'अपने विषयोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर जो इन्द्रियोंका चित्तके स्वरूपमें तदाकार-सा हो जाना है, वह 'प्रत्याहार' है।'

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योगदर्शन ३।१)

'बाहर या शरीरके भीतर कहीं भी किसी एक देशमें चित्तको ठहराना 'धारणा' है।'

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३।२)

'जहाँ चित्तको लगाया जाय, उसीमें वृत्तिका एकतार चलना 'ध्यान' है।'

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(योगदर्शन ३।३)

'जब ध्यानमें केवल ध्येयमात्रकी ही प्रतीति होती है और चित्तका निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब वह ध्यान ही समाधि हो जाता है।'

(१५) संसारके जितने भी विषय-भोग हैं वे वस्तुतः रसरहित हैं—ऐसा समझकर राग-द्वेषरहित और वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा न्याययुक्त विषयोंका ग्रहण करते हुए उनको इन्द्रियोंमें विलीन कर देना। गीतामें कहा गया है—

शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

(४।२६ का उत्तरार्ध)

'दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।'

इस प्रकार करनेसे साधककी दृष्टिमें सभी विषय-भोग रसहीन हो जाते हैं। फिर इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी उसपर वे अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका साधन करनेवाला पुरुष

भी सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। (गीता ४। ३१)

इसलिये मनुष्यको राग-द्वेषसे रहित होकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके संसारमें विचरण करना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसकी परमात्मामें स्थिति हो जाती है। भगवान्‌ने बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

(१६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका और शरीरका विस्मरण करके पूर्णरूपसे संकल्परहित हो एक चिन्मय परमात्माका ही चिन्तन करना। इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब अन्तःकरणका भलीभाँति संयम हो जाता है, तब चिन्मय परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। फिर उसका शरीर और संसारसे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। गीतामें बतलाया गया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

(४। २७)

'दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयम-योगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं।'

अतः शरीर और संसारके संकल्पों और स्फुरणाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मय परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये।

(१७) शरीर, वाणी और मनके द्वारा निष्कामभावसे तपका अनुष्ठान करना।

भगवान् कहते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

(गीता १७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

(गीता १७ । १७)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं ।'

इस त्रिविध तपका श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेपर भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है ।

(१८) निष्कामभावसे कर्म करनेकी जो प्रणाली गीता अध्याय २ श्लोक ४७ से ५१ तक बतायी गयी है, जिसका नाम कर्मयोग है उसके अनुसार साधन करना ।

इस कर्मयोगके साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

(१९) गीता अध्याय १६ श्लोक १-२-३ में दैवी सम्पदाके नामसे वर्णित सद्गुण-सदाचारका भलीभाँति सेवन करना और गीता अध्याय १६ श्लोक ४,७ से २१ तक आसुरी सम्पदाके नामसे वर्णित दुर्गुण-दुराचारका सर्वथा त्याग करना ।

इस प्रकार आसुरी सम्पदाके त्याग और दैवी सम्पदाके सेवनसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है ।

(२०) वीतराग पुरुषोंका चिन्तन करना ।

श्रीपतञ्जलिजीने कहा है—

वीतरागविषयं वा चित्तम् । (योगदर्शन १ । ३७)

'वीतरागको विषय करनेवाला चित्त भी स्थिर हो जाता है ।'

अभिप्राय यह है कि श्रीशुकदेवजी आदि जो विरक्त महापुरुष हुए हैं, उन महापुरुषोंका चिन्तन करनेसे मनमें स्वाभाविक ही वैराग्य होकर संसारसे उपरति हो जाती है तथा परमात्मामें ध्यान लगकर समाधि हो जाती है ।

यदि विरक्त महात्माकी पहचान न हो सके तो अपनी मान्यताके

अनुसार जिस महापुरुषमें श्रद्धा-विश्वास हो उसीका ध्यान करना चाहिये।

(२१) सुखी मनुष्योंके प्रति मित्रता, दुःखी मनुष्योंके प्रति दया, धर्मात्मा मनुष्योंके प्रति मुदिता और पापी मनुष्योंके प्रति उपेक्षा करना।

श्रीपतञ्जलिजीने बतलाया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (योगदर्शन १।३३)

'सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी, दुःखी मनुष्योंमें दयाकी, पुण्यात्मा पुरुषोंमें प्रसन्नताकी और पापियोंमें उपेक्षाकी भावना करनेसे चित्त शुद्ध-निर्मल हो जाता है।'

चित्त शुद्ध होनेपर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र हो जाता है। किंतु प्राणिमात्रके प्रति निष्कामभावसे दया और प्रेम करनेका अभ्यास करनेसे तो सहज ही चित्त शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(१२।४ का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ३१।५)

ऊपर जो इक्कीस साधन बतलाये गये हैं, इनका स्वरूप भलीभाँति हृदयङ्गम करनेके लिये उनमें संकेत किये हुए गीताके श्लोकोंकी विस्तृत व्याख्या गीता-तत्त्वविवेचनी-टीकामें देख सकते हैं। इनके सिवा और भी बहुत-से साधन हैं। उन साधनोंमेंसे किसी एकका भी अनुष्ठान अच्छी प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जाय तो निस्संदेह उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।